मध्यकालीन नारी भावना के परिप्रेक्ष्य में संत कवयित्रियों का योगदान

(शोध प्रबन्ध)

निर्देशिका
डा० शैल पाण्डेय
रीडर, हिन्दी विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोध कर्त्री
आभा त्रिपाठी

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

नवम्बर, १९९८

विषय सूची

क्र० सं०	अध्याय	पृ० सं०

भूमिका

मनुष्य एक चेतना शील प्राणी है। मनुष्य के समस्त कार्य चेतन एवं अचेतन जगत के तत्वों से अनुप्राणित है। यही चेतना जागतिक कार्य व्यापारों से ऊपर उठकर परम चेतन तत्व से अपनी सम्बद्धता स्वीकार करने की स्थिति में स्वयं परम चेतन हो जाती है। ससीम से असीम होने की यहीं साधना भारतीय मंनीषा का अन्तःप्राण है। सन्तों ने भी अपनी चेतना को यही तात्विक ऊँचाई दी। इन्हीं सन्तों के सरल, निस्पृह जीवन ने हिन्दी साहित्य की धारा को नया मोड दिया, जिसके प्रेम, भक्ति, सर्वसमभाव आदि गुणों से रसाप्लावित हो जन- जीवन नवीन स्फूर्ति एवं चेतना से भर उठा, एवं इस वेगवान धारा में उसके समस्त कल्मष, समस्त विकार चूर-चूर हो कर बह गये। संत मार्ग का पहला सूत्र वाक्य ही है अहंकार का नाश। यही अहंकार (कर्त्ता स्वरूप मैं) समस्त दोषों का कारण स्वरूप है। स्वयं के दोषों, दुर्बलताओं को दूर करके दृढ़ विश्वास, प्रेम एवं ह्नदय की शुद्धता के द्वारा ईश्वर की प्राप्ति मनुष्य के अत्यन्त निकट उसके शरीर में निहित अन्तः करण में ही सम्भव है, यह तत्कालीन अनेक मत-मतान्तरों, बाह्यचारों में उलझे जनमानस के लिये सर्वथा नवीन अनुभव था। सम्पूर्ण भारत मे पुरुष सन्तों की तरह स्त्री सन्तों की भी श्रेष्ठ परम्परा रही है, जिन्होंने अपने चारित्रिक गुणों से न केवल स्वयं को उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया वरन् समाज का मार्गदर्शन करते हुये उसकी बर्हिमुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी करने का प्रयास किया।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध, "मध्यकालीन नारी भावना के परिप्रेक्ष्य में संत कवयित्रियों का योगदान" में मध्यकाल से पूर्व नारी की स्थिति एवं उसके प्रति समाज का दृष्टिकोण, मध्यकाल में नारी की स्थिति एवं उसके प्रति सामाजिक दृष्टिकोण एवं सन्त परम्परा में उसके प्रति सन्तों के दृष्टिकोण पर विचार करते हुये संत कवयित्रियों के व्यक्तिव एवं कृतित्व पर विचार किया गया है। विषय सर्वथा नवीन होते हुये मेरी मनोवृत्ति के भी अनुकूल है, क्योंकि परिवार के धार्मिक परिवेश के कारण बाल्यकाल से ही मेरी रूचि धार्मिक साहित्य में थी। पुनः शोध के लिये जब मुझे यह रोचक विषय दिया गया तो जैसे मेरी चिर वांछित अभिलाषा को विराम मिल गया। इस शोध प्रबन्ध की संकल्पना पूर्णतया मौलिक है, इसमें नारी के प्रति दृष्टिकोण को विविध कालों के आयाम में विभक्त करते हुये विशाल विचार राशि को एक लघु फलक पर चित्रित करने का प्रयास किया गया है, यह चित्रण कितना सही है, इसका मूल्यांकन तो गुरुजन ही कर सकते हैं, अल्पज्ञान की सीमा में बंधी मैं क्या कह सकती हूँ।

शोध प्रबन्ध को पॉच अध्यायों मे विभक्त किया गया है। इसके साथ एक परिशिष्ट भी दिया गया है। प्रथम अध्याय में प्राचीन काल में नारी के प्रति दृष्टिकोण एवं उसकी स्थिति को कालानुसार वैदिक युग, ब्राह्मण-उपनिषद् युग, स्मृति-पुराण-बौद्ध युग में विश्लेषित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में मध्यकाल में नारी की स्थिति एवं उसके प्रति दृष्टिकोण का राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक बिन्दुओं के माध्यम से आकलन किया गया है।

तृतीय अध्याय में संत शब्द, संतपरम्परा, संत परम्परा मे नारी के प्रति दृष्टिकोण और सन्तों की नारी निन्दा के कारणों का विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में हिन्दीतर प्रदेश की संत कवयित्रियो के व्यक्तित्व, कृतित्व एवं उनके योगदान को निरूपित किया गया है। इसमें कश्मीर की लालदेद एवं देवी रूप भवानी, महाराष्ट्र की मुक्ताबाई, बहिणाबाई, बयाबाई, महदायिसा, जनाबाई, आन्ध्र प्रदेश की मल्ला एवं गुजरात की इन्द्रामती पर विचार किया गया है।

पञ्चम अध्याय में हिन्दी प्रदेश की संत कवयित्रियों, सहजोबाई, दयाबाई, बावरी साहिबा, उमा और पार्वती के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। हिन्दी प्रदेश की संत कवयित्रियों के साथ मीराबाई का मूल्याकंन नहीं किया गया है। मीराबाई हिन्दी आलोचना में स्वीकृत संत शब्द की परिधि में नहीं आती हैं। वे तो गिरधर नागर के गुण गाने वाली, पति रूप में उनका वरण करने वाली, सगुणोपासक भक्त हैं, यद्यपि उनके नाम से प्रचलित कुछ पदों में संत मत में प्रयुक्त शब्दावली परिलक्षित होती है, जिनके कारण मीराबाई को भी संतमतावलम्बिनी कहने की प्रवृत्ति बनती दिखती है, किन्तु ये पद प्रामाणिक न होकर प्रक्षिप्त माने जाते हैं। अतः इन प्रक्षिप्त पदों के आधार पर मीरा को संत मतावलम्बिनी सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इसके साथ ही एक परिशिष्ट भी दिया गया है, जिनमें उन संत कवयित्रियों का उल्लेख किया गया है, जिनके बारे में वृहद् सूचना का अभाव है। इस तरह से पॉच अध्यायों में विभक्त उक्त शोध प्रबन्ध नारी भावना के परिप्रेक्ष्य में इन हिन्दी एवं हिन्दीतर प्रदेश की संत कवयित्रियों के योगदान को लक्ष्य करके निरूपित किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में हिन्दीतर प्रदेश की संत कवयित्रियों के मूल्यांकन में विभिन्न भाषा–भाषी होने के कारण अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। विषय से सम्बन्धित प्रभूत सामग्री अंगेजी भाषा में मुझे मिली तथापि अनुवादों के जरिये, जिनमें मुझे गुरुजनों का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ, उक्त समस्या को सुलझा लिया गया। विद्वान आचार्य डा० रमाशंकर मिश्र, विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग मुनीश्वरदत्त महाविद्यालय, प्रतापगढ़ के प्रति मै अपना आभार किन शब्दों में व्यक्त करूँ, जिन्होंने संस्कृत में अनूदित लालदेद की "लल्लेश्वरी वाक्यानि" का हिन्दी अनुवाद संशोधित करने में मेरा मार्गदर्शन किया। उनके प्रति आभार व्यक्त करना अत्यंत समीचीन लगता है क्योंकि "लल्लेश्वरी वाक्यानि" के निहितार्थ का बोध इसी कारण हो सका, जिससे वेदान्त का गूढ़ संदेश जो लोक भाषा काश्मीरी में था, प्रकाशमान हो सका।

विदुषी निर्देशिका डा० शैल पाण्डेय, रीडर, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद के प्रति आभार शब्दों में व्यक्त किया ही नहीं जा सकता है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना मात्र औपचारिकता होगी। उनकी स्वयं की संत प्रवृत्ति ही यह गुरुतर कार्य सम्पन्न करा सकी है। उनके सानिध्य में रहकर यह शोध कार्य करने मे मूझे उनके सात्विक गुणों से बड़ी प्रेरणा मिली, तथा उनकी आध्यात्मिक भावभूमि के संस्पर्श से इस दिशा में आलोक मिला, जो अप्रतिम है।

उक्त शोध कार्य को पूर्ण करने में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की भी महती भूमिका है, जिसकी तीन वर्ष तक कनिष्ठ अनुसंधान छात्रवृत्ति एवं दो वर्ष तक वरिष्ठ अनुसंधान छात्रवृत्ति प्राप्त होने से उक्त शोधकार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सका है।

उक्त शोध कार्य को पूर्ण करने में मुझे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पुस्तकालय, एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालय से बहुत सहायता मिली। इन पुस्तकालयों के प्रबन्धकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना कर्तव्य समझती हूँ।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं अपना यह शोध प्रबन्ध सुधीजनों के सम्मुख प्रस्तुत करती हूँ, जो संत साहित्य की दिशा में किया गया प्रयास है।

दीपावली
१९ अक्टूबर, १९९८

आभा त्रिपाठी
(आभा त्रिपाठी)

प्रथम अध्याय

प्राचीन भारत में नारी के प्रति दृष्टिकोण

— सृष्टि चक्र के प्रवर्तन के लिये ईश्वर ने स्त्री एवं पुरुष के रूप में दो भिन्न तत्वों की रचना की। प्रकृति रूप एवं गुण में एक दूसरे से भिन्न ये तत्व मानवी सृष्टि के आधार हैं। किसी भी एक तत्व के बिना सृष्टि की कल्पना नहीं की जा सकती हैं। सृष्टि की यही संकल्पना भगवान् शिव के "अर्धनारीश्वर" रूप में अन्तर्निहित है। पुरूष यदि बल, पराक्रम एवं शौर्य की प्रतिमूर्ति माना जाता है तो शुम्भ-निशुम्भ, मधु-कैटभ, महिषासुर आदि दैत्यों का दलन करने वाली शक्ति स्वरूपा महामाया भी स्त्री स्वरूपा ही है। वह पुरूष को आनन्दित करने वाली रमा, सबका भरण-पोषण करने वाली अन्नपूर्णा एवं रण में शत्रुओं का संहार करने वाली चण्डी है। यह सृष्टि का स्त्री रूप ही है जिसमें एक साथ दया, माया, ममता, करूणा, शौर्य, शक्ति, स्निग्धता एवं सुकुमारता विद्यमान् है।

मध्यकालीन नारी भावना का अध्ययन करने के लिये उसकी परम्परा पर दृष्टिपात् करना आवश्यक है, क्योंकि दृष्टि संरचना किसी एक दिन की उपज नहीं होती है, उसके पीछे परम्परा का हाथ होता है। इसी परम्परा को जानने के लिये हम कालानुसार निम्नांकित बिन्दुओं पर विचार करेंगे। —

(क) वैदिक युग

(ख) ब्राह्मण–उपनिषद् युग

(ग) स्मृति–पुराण–बौद्ध युग

(क) वैदिक युग

वेद हमारे आदि उपदेष्टा, आदि नियामक हैं। समस्त सर्जनात्मक प्रक्रिया का मूल एवं आदि स्वरूप वैदिक वाङ्मय में प्राप्त होता है। वेदों से पूर्व किसी भी रचना का उल्लेख नहीं मिला है। किसी भी विषय का अध्ययन करते समय उसके सन्दर्भ सूत्र वेदों में खोजे जातें है, और उनके समाधान की चेष्टा की जाती है। अतः स्त्रियों की दशा की चर्चा करते समय भी यही दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये।

ऋग्वेद संसार का प्राचीनतम ग्रंथ है। इसमें स्त्री एवं पुरूष का लिंग भेद की दृष्टि से विभेद नहीं है। इस युग में स्त्रियॉ पुरूषों के समकक्ष ही मानी गई हैं और कहीं–कहीं तो उनका स्थान पुरूषों से भी ऊँचा माना गया है। इस युग में स्त्रियों का भी उपनयन संस्कार होता था और वे ब्रह्मज्ञान एवं ब्रह्मचर्य के लिये पुरूषों के समान ही योग्य समझी जाती थीं। बालकों को पुरुष एवं बालिकाओं को स्त्रियॉ शिक्षित करती थीं। ऋग्वेद के दूसरे मंडल के ४१ वें सूक्त के १९ वें मन्त्र में इसका निर्देश मिलता है। स्त्रियाँ विदुषियों से ब्रह्मचर्य नियम के अनुसार भूगर्भादि विषयों से लेकर ब्रह्मज्ञान विषयक शिक्षण ग्रहण करती थीं।[1] उषा के सदृश विदुषी स्त्रियॉ अविद्या निद्रास्थ स्त्रियों को ज्ञान के आलोक से जागृत करके उन्हें सत्कार्यों में प्रेरित करती थी।[2] वेदों में ऐसे अनगिनत उदाहरण मिलते है जो यह प्रमाणित करते हैं कि न केवल स्त्रियों ने वेदों का अध्ययन किया अपितु अनेक मंत्रों का साक्षात्कार भी किया। इन मन्त्रद्रष्टा ऋषिकाओं में शची

---

[1] ऋग्वेद ७/३४/१ और ७/३५/९

[2] ऋग्वेद ७/४१/७ और यजुर्वेद ३४/४०

पौलोमी[1] जो पुलोम ऋषि की पुत्री एवं इन्द्र की धर्मपत्नी है, मयी[2] जो मय दानव केकुल में मय से पूर्व उत्पन्न हुईं थी, मनु की सहधर्मिणी श्रृद्धा कामायनी[3] वागम्भृणी[4] अदिति दाक्षायणी[5] ऋद्जिष्वा[6] घोषा काक्षीवती[7], सरस्वती[8], यमीवैवस्वती[9] विश्ववारा[10] विश्वसामा[11] रोमशा ब्रह्मवादिनी[12]

घृताची[13] सर्पराज्ञी कद्रूऋषि[14] लोपामुद्रा[15] नोधा[16] गौरिवी[17] रम्याक्षी[18] लौगाक्षी[19] बादरायणि[20] सूर्यासावित्री[21] वृषाकपिरिन्द्राणी[22] रेणुः[23] सिकतानिवावरी[24] आकृष्टमाषा[25]

---

[1] ऋग्वेद १०/१५९/– (मदुरै एवं कन्याकुमारी के बीच में शचीतीर्थ नामक स्थल है, हो सकता है वहीं इस ऋषिका ने मन्त्रों का साक्षात्कार किया हो। मेरठ के पास हस्तिनापुर मे भी शतीतीर्थ नामक सरोवर का उल्लेख अभिज्ञान शाकुन्तलम् में है। इस तरह यह सुदूर दक्षिण एवं उत्तर में ख्याति प्राप्त सिद्ध होती है।

[2] ऋग्वेद १०/१५४/१,२,३,४,५

[3] ऋग्वेद १०/१५१/१,२,३,४,५

[4] ऋग्वेद १०/१२५/१,२,३,४,५,६,७,८

[5] ऋग्वेद १०/७२/१,२,३,४,५,६,७,८,९

[6] ऋग्वेद ६/४९,५०,५१,५२

[7] ऋग्वेद १०/४०

[8] ऋग्वेद ७/९५/१,२,३,४,५,६ और ७/९६/१,२,३

[9] ऋग्वेद १०/१०/१,३,५,६,७,११,१३

[10] ऋग्वेद ५/२८

[11] ऋग्वेद ५/२२

[12] ऋग्वेद १/१२६/७

[13] यजुर्वेद २/६,१८

[14] यजुर्वेद ३/६,७,८ सामवेद– पूर्वार्चिक, आरण्यक पर्व, षष्ठ अध्याय, पॉचवी दशती ६३०,६३१

[15] यजुर्वेद १७/११,१२,१३,१४,१५ ३६/२०

[16] यजुर्वेद ३४/१६,१७ अथर्ववेद– २०/९/१,२,और २०/३५/१–१६ सामवेद –पूर्वार्चिक– ऐन्द्रपर्व, तृतीय अध्याय पहली एवं आठवीं दशती उत्तरार्चिक– पञ्चमखण्ड–१४१८, १४१९, १४२०

[17] यजुर्वेद – २६वॉ अध्याय ६४ वॉ मन्त्र
सामवेद –पूर्वार्चिक– पवमान पर्व, पञ्चम अध्याय ११ वीं दशती, ऐन्द्रपर्व तृ०अ०,द० दशती,

[18] यजुर्वेद – २६वॉ अध्याय –४,५

[19] यजुर्वेद – २६ वॉ अध्याय–२

[20] अथर्ववेद– ४/३७,३८

[21] अथर्ववेद – १४/१/१/१–६४, १४/२/२/१–७५

गार्गी[१] तिरश्ची[२] पृष्णयोऽजा[३] कुत्सा[४] रेभा[५] नीपातिं[६] कुसीदी[७] देवजामिं[८] आदि है जिन्होंने अपनी तेजस्विता एवं ब्रह्मवर्चस्व के बल पर निम्नांकित मन्त्रों का साक्षात्कार किया। बाद में इन मन्त्रों को पवित्र नियमों के रूप में संकलित किया गया।

वैदिक शिक्षा उपनयन संस्कार से प्रारम्भ होती थी, जो सम्भवतः आठ वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होती थी। वैदिक शिक्षा उपयुकत जीवन साथी के चुनाव में एक अनिवार्य योग्यता होती थी। विवाह युवावस्था में दीर्घ ब्रह्मचर्य के साथ शिक्षा ग्रहण करने के उपरान्त ही होते थे।[९] स्वयं के सदृश विद्यायुक्त ब्रह्मचारिणी, सुन्दर रूप, बल, पराक्रम वाली, अच्छे स्वभाव वाली, सुख देने वाली युवती से विवाह संबंध करने का निर्देश है।[१०] ऐसा भी कथन है कि जो विद्वानों के कुल की कन्या, विद्वानों की बन्धु हो और ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त की हो ऐसी स्त्री को

---

[२२] अथर्ववेद –२०/१२५/१–२३

[२३] सामवेद – उत्तरार्चिक –११/५/१४२३,१४२४,१४२५
पूर्वार्चिक – ऐन्द्रपर्व – ३/११/३३९

[२४] सामवेद – उत्तरार्चिक – ८/४/११५२–११५४, ३/५/८२१, ८२२

[२५] सामवेद – उत्तरार्चिक – ७/१/१०३१–१०३३, ५/१/८८६–८८८

[१] अथर्ववेद – १९/७,८

[२] सामवेद – उत्तरार्चिक – ४/६/८८३–८८५ पूर्वार्चिक – ऐन्द्रपर्व – ३/१२/३४६,३४९

[३] सामवेद – उत्तरार्चिक – ३/५/८२३

[४] सामवेद – पूर्वार्चिक – आरण्यकपर्व – ६/५/६२९

[५] सामवेद – पूर्वार्चिक – ऐन्द्रपर्व – ४/१२/४६०

[६] सामवेद – पूर्वार्चिक – ऐन्द्रपर्व – ३/१२/३४८

[७] सामवेद – पूर्वार्चिक – ऐन्द्रपर्व – २/५/१६२, २/६/१६७

[८] ऋग्वेद –१०/१५३/१

[९] ऋग्वेद – ७/४/१४

[१०] ऋग्वेद १/११३/७, १/५६/२

पत्नी बनाना चाहिये।[1] अति उत्तम विवाह वह है जिसमें तुल्य रूप स्वभाव युक्त कन्या और वर का संबंध हो, परन्तु कन्या से वर का बल, आयु डेढ़ गुना या दुगुना होना अभीष्ट है।[2] सुशिक्षित वाणी के तुल्य[3] अखण्डित आनन्द देने वाली[4] प्रशस्त विज्ञान युक्त[5] शिरोवेष्टन अर्थात पगड़ी के तुल्य[6] भूमि के सदृश पोषण करने वाली[7] प्रसिद्ध अप्रसिद्ध सुख देने वाली[8] पृथ्वी के तुल्य क्षमाशील[9] जल के तुल्य शान्तिशील[10] वैद्य के तुल्य हितकारिणी[11] रोगहीन, सुन्दर-सुन्दर रत्नों वाली, बिना अश्रुओं वाली[12] होना चाहिये। स्त्री की दशा का अनुमान यजुर्वेद के एक प्रसंग से आसानी से लगाया जा सकता है, जब विवाह के अवसर पर पुरुष स्त्री से कहता है कि जैसे सूर्य भूगोलों को, प्राण शरीर का और उपदेशक सत्य का ग्रहण करते हैं वैसे ही तुझे मैं ग्रहण करता हूँ।[13] विवाह आत्मिक उन्नति के लिये किया गया पवित्र बन्धन होता था[14], जिसमें वे गार्हस्थिक कर्तव्यों को करते हुये धर्म के द्वारा आत्मिक उन्नति करते थे इसे धर्माधि-सम्बन्ध कहा जाता था। पाणिग्रहण के अवसर पर वर वधू से कहता है कि भग, अर्यमा, सविता और

---

1. ऋग्वेद २/३२/६
2. ऋग्वेद १/५६/३
3. यजुर्वेद अध्याय ३८/२
4. यजुर्वेद अध्याय ३८/२
5. यजुर्वेद अध्याय ३८/२
6. यजुर्वेद अध्याय ३८/३
7. यजुर्वेद अध्याय ३८/३
8. यजुर्वेद अध्याय ३८/३
9. यजुर्वेद अध्याय ३६/१३
10. यजुर्वेद अध्याय ३६/१४
11. यजुर्वेद अध्याय ३३/............
12. अथर्ववेद १०/३/५७
13. यजुर्वेद अध्याय ३८/१
14. कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया पृ०-१९४

पुरन्धि गृहस्थ धर्म के लिये तुम्हें मुझे देते है, मै सौभाग्य के लिये वृद्धावस्था पर्यन्त के लिये तुम्हारा पाणिग्रहण करता हूँ[1] तुम मेरी धर्मपत्नी हो और मैं तुम्हारा गृहपति हूँ।[2] विवाह बंधन में परस्पर एक दूसरे को बांधने वाला संस्कार. "उपयम" कहलाता है और बँधने वाले स्त्री-पुरूष यम और यमी है।[3] दम्पत्ति शब्द पति-पत्नी के सम्मिलित स्वामित्व का द्योतक था।[4] विवाह स्वयंवर विधान से होते थे।[5] विवाह के पश्चात वधू पितृगृह से पतिगृह जाती थी और नवीन घर में सास-ससुर, ननद देवर सब पर शासन करती हुई श्वसुर कुल की साम्राज्ञी होती थी।[6]

सामान्यतया वैदिक बलि पति और पत्नी सम्मिलित होकर देते थे लेकिन वैदिक युग में विवाह अनिवार्य नहीं होते थे। ऐसे भी बहुत उदाहरण मिलते है जहाँ अविवाहित स्त्रियॉ सोमलता की डाल लेकर इन्द्र के लिये बलि देती थी। कुछ बलि जैसे फसल कटने के समय सीता बलि और रूद्र बलि केवल स्त्रियों के द्वारा ही सम्पादित की जाती थी। स्त्रियाँ पुरूषों की ही भाँति धार्मिक कार्यों का आयोजन करती थी। असमर्थता के निर्बल बिन्दु से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ था। बलि के अवसर पर स्त्रियॉ पुरोहित का कार्य भी करती थी।[7] अम्भृण ऋषि की कन्या वाक् द्वारा रचित देवी सूक्त अपने में अप्रतिम है। विश्ववारा को भी हम अकेले ही दैनिक प्रार्थना करते हुये पाते है।[8] आरण्यक और श्रौत सूत्र में

---

1. ऋग्वेद १०/८५/३६
2. अथर्ववेद १४/१५०/५१
3. ऋग्वेद १०/८०/१०
4. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी भावना पृ०-१५ डा० उषा पाण्डेय
5. ऋग्वेद १/१५५/६
6. ऋग्वेद १०/८५/४६
7. पोजीशन ऑफ विमेन इन एनाशियेन्ट इन्डिया पृ०- २१६
8. पोजीशन ऑफ विमेन इन एनाशियेन्ट इन्डिया पृ०-२१७

बलि के अवसर पर पति द्वारा पत्नी से मन्त्रोंच्चारण के लिये कहा जाता है।[1] स्त्रियाँ विद्याध्ययन, अध्यापन, पौरोहित्य, गार्हस्थिक कार्यों के अतिरिक्त वैद्यकी और न्याय का कार्य भी करती थी। स्त्रियों द्वारा वैद्यकशास्त्र के अध्ययन का उल्लेख यजुर्वेद में है।[2] न्याय के संदर्भ में ऋग्वेद के प्रथम मं० मे एक उल्लेख आया है, जिसमें राजा के प्रति रानी का कथन है कि, मैं आपसे न्यन नहीं हूँ, जैसे आप पुरूषों के न्यायाधीश है वैसे ही मैं स्त्रियों का न्याय करने वाली हूँ और जैसे पहले राजा महाराजाओं की स्त्री प्रजास्थ स्त्रियों की न्याय करने वाली हुई वैसी मैं भी होऊँ।[3] पहले की रानियों के उल्लेख से इसकी दीर्घकालीन परम्परा का बोध होता हैं। ऋग्वेद के द्वितीय मंडल में इसी तरह का उल्लेख आया है कि जिस देश और नगर में विदुषी स्त्री, स्त्रियों का न्याय करने वाली हो उस देश और नगर में दिन रात निर्भय होते हैं विशेषकर चोर आदि के भय से रहित सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत होती है।[4] रानी दुष्टा स्त्रियों को मारकर अन्य स्त्रियों की रक्षा भी करती थी।[5] वे शान्ति के समय समृद्धि में योगदान देती थी और युद्ध में विजय दिलाने का कार्य करती थीं। ऋग्वेद के दशम मं० में हम इन्द्रसेना मुद्‌गलानी का आख्यान पाते है, जिसने अपने पति मुद्‌गल की सहायता के लिये स्वयं रथ का संचालन किया और वीरतापूर्वक युद्ध करते हुये हजारों पशुओं को जीत लिया।[6] इसी प्रकार ऋग्वेद के ही प्रथम मं० में हम रानी विश्पला का

---

1. पोजीशन ऑफ विमेन इन एनाशियेन्ट इन्डिया पृ०- २१८
2. यजुर्वेद ११/४८
3. ऋग्वेद १/१२६/७
4. ऋग्वेद २/२७/१४
5. ऋग्वेद २/३०/८
6. ऋग्वेद १०/१०२/२-६

आख्यान पाते हैं जिसने युद्ध करते समय अपना एक पैर गँवा दिया।[1] राजा के अभाव में रानी के सेनापति होने का भी उल्लेख मिलता है।[2]

ѻ स्त्रियों को समाज मे सम्मानजनक स्थान प्राप्त था। स्त्रियॉ औद्योगिक जीवन में भी क्रियात्मक भूमिका निभाती थी। के तीर और धनुष का निर्माण करती थीं, टोकरियाँ बनाती थी, कपड़े बुनती थी, घर के बाहर कृषिकार्य में भी भाग लेती थीं। इस काल मे तीर -धनुष का निर्माण करने वाली स्त्रियों के लिये प्रयोग किया जाने वाला शब्द "इषुकत्री" परवर्ती साहित्य में नहीं मिलता है।

स्त्रियॉ ललित कलाओं जैसे संगीत गायन, वादन और नृत्य में निपुण होती थी। आमोद-प्रमोद के लिये मुक्त होती थी। वे "सवन" नाम के सार्वजनिक उत्सव में भी भाग लेती थी। सभाओं का संचालन उसी कुशलता के साथ करती भी जैसे पुरूष करते थे। इन्हीं विशेषताओं के कारण गृहपत्नीको नाविक से उपमित किया गया है। खान-पान आदि आवश्यक सामग्री से युक्त जलयात्रियों की नौकाको नाविक के सदृश गृहिणी भी धन-धान्य एवं ऐश्वर्य से पूरित और दृढ़रख कर पति को नियम में बांधकर, पूरे प्रेम से प्रसन्न रखकर ग्रहस्थाश्रम से पार लगाती है।[3] इन्द्राणी भारतीय पत्नी की प्रतीक है, वह घर की एकछत्र स्वामिनी, पति में शक्ति का संचार करने वाली, एवं उसक सम्पूर्ण ह्रदय के प्रेम की अधीश्वरी है।[4] परिवार पितृसत्तात्मक होते थे, तथापि सम्पत्ति पर पति पत्नी का संयुक्त रूप से स्वामित्व होता था। ऋग्वेद में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जो यह

---

[1] ऋग्वेद १/११६/१५

[2] ऋग्वेद ६/७६/१३

[3] अथर्ववेद २/३६/५

[4] मध्ययुगीन साहित्य में नारी भावना से उद्धृत पृ-१४

सिद्ध करते है कि उस समय स्त्रियाँ घर की स्वामिनी होती थी। माता के रूप में स्त्री श्रद्धा एंव आदर की पात्र होती थी।[1]

युद्ध के लिये बड़ी-बड़ी सेनाओं की आवश्यकता होती थी इसलिये स्त्रियाँ बड़े परिवार का बोझ सम्हालती थी और दस-दस पुत्रों की माता बनती थी[2] (यहाँ-यह उल्लेखनीय है कि वे पुत्रों की माता बनती थी पुत्रियों की नहीं क्या यह सम्भव है? शायद नही, फिर भी यह उल्लेख पुत्र की पुत्री की अपेक्षा उच्च स्थिति का परिचायक है।)

स्त्रियों की कानूनी स्थिति भी अत्यन्त सुदृढ़ थी। विवाह के अवसर पर प्राप्त स्त्रीधन पर उनका ही अधिकार होता था। वे लाभ वाले व्यवसाय अपनाती थी और वे जो भी उत्पादित करती थी उसके विक्रय का अधिकार भी उन्हीं का था। अविवाहित कन्याओं को पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था। विवाहित पुत्रियों को चूँकि विवाह के अवसर पर पर्याप्त धनराशि दहेज के रूप में दे दी जाती थी, अतः उनका पिता की सम्पत्ति पर कोई अधिकार नही होता था। पुत्रहीन पिता अपनी पुत्री को "पुत्रिका" निर्देशित करता था और ऐसी पुत्री पुत्र के ही समकक्ष मानी जाती थी।[3] जिन स्त्रियों के भाई नही होते थे उनसे विवाह करने में लोग हिचकते थे क्योंकि उस स्थिति में उस स्त्री का पहला पुत्र स्त्री के पिता के अधिकार में रहता था। संयुक्त परिवार प्रथा होने के कारण न तो पुरूष

---

[1] विमेन इन एनशियेन्ट इन्डिया पृ-६३

[2] ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया पृ-२९

[3] पोजीशन ऑफ विमेन इन एनाशियेन्ट इन्डिया पृ-२१९

की ही और न स्त्री की ही कोई वैयक्तिक सम्पत्ति होती थी। विधवाओं को पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं था।

विधवा विवाह भी प्रचलित थे। ऋग्वेद की एक ऋचा में उपमा अलंकार के माध्यम से संकेत किया गया है कि एक विधवा अपने पति के भाई को अपनी शय्या की और खींच रही है। इसी प्रकार श्मशान में पति के शव के पास पड़ी हुई विधवा को संबोधित करते हुये कहा गया है कि, "हे नारी तू जीवित जनों को लक्ष्य कर उठ खड़ी हो। तू इस निष्प्राण के समीप पड़ी है। उठ कर आ।"[1] अथर्ववेद में भी ऐसा उल्लेख है कि पति की मृत्यु के पश्चात पत्नी अन्तिम संस्कार की भूमि पर उसके पास लेट जाती है, वहाँ से वह पति के भाई द्वारा उठाकर ले जाई जाती है जिससे वह उसकी पत्नी बन सके[2]।

अथर्ववेद में ही एक अन्य सन्दर्भ में मृत पति की पत्नी के प्रति कथन है कि. "हे नारी, जीवित पुरूषों के समाज की और चलो। इस गये हुये प्राण वाले पति को सराहती हुई तू पड़ी है।"[3] नियोग की प्रथा भी प्रचलित थी। ऋग्वेद के दशम् मं० के १८ वे सूक्त के नवें मन्त्र में नियोग प्रथा का उल्लेख है। अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में नियोग प्रथा का उल्लेख है।[4] नियोग प्रथा से उत्पन्न सन्तान स्त्री के मृत पति की ही सन्तान मानी जाती थी। नियुक्त पुरूष से सन्तान का कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। अथर्ववेद के एक उदाहरण से इसकी पुष्टि होती है।

---

१ ऋग्वेद १०/८/९

२ ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया पृ-११

३ अथर्ववेद -१८/३/२

४ अथर्ववेद - १८/३/१, १८/३/२, १८/३/३, १८/३/४

मृत पति की पत्नी के प्रति कथन है कि, "हे स्त्री नियुक्त पति से अपने विवाह में हाथ पकड़ने वाले पति की सन्तान को शास्त्रानुसार तू प्राप्त करे।"[1]

उक्त विश्लेषण से इतना तो निश्चित होता ही है कि स्त्रियों की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक दशा अत्यन्त सुदृढ़ थी। तथापि ऋग्वेद की विवाह सम्बन्धी ऋचाओं में दस पुत्रों के लिये प्रार्थना और कन्या का कोई सन्दर्भ उल्लिखित न होना यह द्योतित करता है कि कन्या से पुत्र का स्थान ऊँचा और सम्मानजनक माना जाता था।

पुत्र जन्म अधिक आनन्द जनक अवश्य था, किन्तु उत्पन्न होने के उपरान्त पुत्री असीम ममता एंव स्नेह की भागिनी हो कर कनिका नाम से अभिहित होती थी।[2] कन्या की तुलना ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में उषा से की गई है। ऋग्वेद के प्रथम मं० के ४८ वे सूक्त के १४ वे मन्त्र में कहा गया है कि जैसे उषा अपने प्रकाश से सब पदार्थो को प्रकाशित करती है वैसे ही विदुषी स्त्रियॉ विश्व को सुभूषित करती रहें। यह विश्व कल्याण-कामना वह भी स्त्री के माध्यम से हो, ही उनकी समाज में वास्तविक वस्तुस्थिति का परिचायक है।

(ख) ब्राह्मण - उपनिषद् युग

ब्राह्मण - उपनिषद् युग में आर्यों का साम्राज्य विस्तार सम्पूर्ण उत्तर भारत में हो गया था, और उनकी स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ हो गई थी। सभी कार्यों के लिये विजित जनसामान्य का सस्ता श्रम उपलब्ध था, अतः स्त्रियों के द्वारा किये

---

[1] अथर्ववेद - १८/३/२

[2] मध्ययुगीन हि० सा० में नारी भावना डा० उषा पाण्डेय पृ० १५

जाने वाले कार्यो में काफी कमी आई। स्त्रियॉ कताई, बुनाई, कढ़ाई वस्त्र रंगाई आदि कार्यो के अतिरिक्त खेती, तीरधनुष के निर्माण आदि कार्यो से विरत हुई।

७ इस युग में वैदिक युग को समान ही स्त्रियों की समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त था, किन्तु वर्ण व्यवस्था के कारण उनकी स्थिति में क्रमशः ह्रास होने लगा। स्त्रियों की धार्मिक स्थिति इस समय भी अच्छी ही कही जा सकती है। उपनयन संस्कार वैदिक युग की ही तरह अब भी होता था। वैदिक युग के बाद शिक्षित स्त्रियों के दो वर्ग मिलते है। (१) ब्रह्मवादिनी (२) सद्योद्वाहः ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ अविवाहिता रहकर जीवन पर्यन्त धर्मशास्त्र एंव दर्शन का अध्ययन एंव अध्यापन करती थीं। सद्योद्वाहः स्त्रियॉ विवाह होने तक अपनी शिक्षा जारी रखती थी।[1] और आठ-नौ वर्ष तक संस्कारों की विधि तथा वैदिक ऋचाओं की उच्चारण विधि सीख कर गृहस्थ धर्म अपनाती थी।[2] स्त्रियों की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध होता था और ज्ञान प्राप्ति के लिये वे भी पुरूषों के समान ही शिक्षा के केन्द्रों में जाया करती थी।[3] वैदिक युग में पिता ही सन्तान का शिक्षक होता था। इस युग में शिक्षकों का एक वर्ग जिन्हें आचार्य कहा जाता था, सामने आया स्त्री शिक्षकों का भी उल्लेख मिलता है जिन्हें "आचार्या" कहा जाता था, ये उन आचार्यो को स्त्रियों से भिन्न होती थी जिन्हें आचार्यानी कहा जाता था।[4] बालिकाओं की शिक्षा घर पर ही पिता, चाचा या भाई के संरक्षण में होती थी,

---

[1] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन डॉमेस्टिक लाइफ पृ०-५

[2] मध्ययुगीन हिन्दी सा० में नारी भावना पृ०-१७

[3] पोजीशन ऑफ विमेन इन एनशियेन्ट इन्डिया पृ०-२१८

[4] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन लाइफ सोशल पृ०-३०

कुछ बालिकायें बाहर के शिक्षकों से भी पढ़ती थी और कुछ छात्रावासों जिन्हें उस समय "छात्रीशाला" कहा जाता था, में रहकर शिक्षा प्राप्त करती थी।[1]

इस काल मे वेदों की शिक्षा पीछे छूटने लगी क्योंकि वैदिक साहित्य अधिक विस्तृत एंव जटिल हो गया था। उसकी शाखायें प्रशाखायें एंव उपशाखाये विकसित हो गई थी। तत्कालीन जनभाषा और वैदिक ऋचाओं की भाषा में अन्तर बढ़ता जा रहा था। वैदिक कर्मकाण्डों की जटिलता भी बढ़ती जा रही थीं उनका सम्यक सम्पादन उन्हें अच्छी तरह से जानने वाला ही कर सकता था। वैदिक काल के सरल कर्मकाण्डों का अध्ययन स्त्रियॉं १६-१७ वर्ष की अवस्था तक कर लेती थी।[2] इस युग के विस्तृत कर्मकाण्ड के वृहत साहित्य का अध्ययन तभी सम्भव था जब स्त्री २२ या २४ वर्ष की अवस्था तक अविवाहित रहती। देश की समृद्धि और आर्थिक उन्नति के साथ विलासिता की प्रवृत्ति बलवती हो रही थी, अतः स्त्रियों के उपनयन और शिक्षा पर आघात पहुँचा[3] तथापि हम गार्गी; वादवा प्रातिथेयी सुलभा और मैत्रेयी जैसी विदुषी स्त्रियों के उदाहरण पाते हैं। स्त्रियाँ मीमांसा जैसे गूढ़ दार्शनिक विषयों में भी रूचि लेती थीं। काशकृत्सन के मीमांसा दर्शन का अध्ययन करने वाली स्त्रियों को "काशकृत्सना" कहा जाता था। दार्शनिक शिक्षा के लोकप्रिय होने के कारण सन्यास धर्म के प्रति स्त्रियों का झुकाव परिलक्षित होता है। और बौद्ध-धर्म से पहले ही कम संख्या मे ही सही, संन्यासिनियों का अस्तित्व प्रकाश में आया। वे दार्शनिक वाद-विवाद में भाग लेती थीं इस सन्दर्भ में याज्ञवल्क्य से गार्गी द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उल्लेख आवश्यक

---

[1] वही पृ०-३०

[2] पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ०-२३

[3] मध्ययुगीन हिन्दी सा० में नारी भावना पृ०-९८

है जो कठिन ही नहीं तथ्यपूर्ण भी है।[1] इस शास्त्रार्थ में यद्यपि गार्गी पराजित हुई थी तथापि समस्त भारत से आये विद्वानों को उनकी विद्वत्ता का लोहा मानना पड़ा था।[2] आश्वलायन गृह सूत्र में गार्गी, वादवा प्रातिथेयी, सुलभा मैत्रेयी आदि स्त्री शिक्षकों के नाम प्राप्त होते हैं।[3] वे शिक्षा की कुछ शाखाओं की विशेषज्ञ भी हुआ करती थीं[4] पातञ्जलि के महाभाष्य में भी स्त्री शिक्षकों और विशेषज्ञों का निर्देश मिलता है। रामायण में सीता को भी हम सांध्य-प्रार्थना करते हुये पाते हैं[5] जिससे उनके शिक्षित होने का परिचय प्राप्त होता है। पाण्डवों की माता कुन्ती भी अथर्ववेद में पारगंत थी। स्त्रियों की शिक्षा और समाज में उनके स्थान का निर्धारण ऐतरेय उपनिषद में आये एक आख्यान से किया जा सकता है जिसके अनुसार सुसंतति विज्ञान पर हो रही परिचर्चा में भाग लेने के लिये स्त्रियां उस स्थान पर जाती हैं और परिचर्चा समाप्त होने पर ही वापस आती हैं।[6]

स्त्रियों को विवाह करने की बाध्यता नहीं थी। ब्रह्मवादिनी स्त्रियाँ आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त करतीं थीं। इस युग में कन्या की विवाह की आयु १५-१६ वर्ष हो गई थी, अतः उनका ब्राह्मचर्य जीवन वैदिकयुग की अपेक्षा छोटा हो गया था।[7] बहुविवाह प्रथा भी थी, एक पुरूष कई स्त्रियों से विवाह कर सकता था। इतिहास में द्रौपदी से पाँच पाण्डवों के विवाह के आख्यान से बहुपति प्रथा का उल्लेख भी मिलता है। आर्य पुरूषों के अनार्य स्त्रियों से विवाह के भी

---

[1] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन सोशल लाइफ पृ०-३०

[2] पोजीशन ऑफ विमेन इन एनाशियेन्ट इन्डिया पृ०-२१८

[3] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन डॉमेस्टिक लाईफ पृ०-५

[4] पोजीशन ऑफ विमेन इन एनशियेन्ट इन्डिया पृ० - २१८

[5] संध्याकाल मना· श्यामा ध्रुव मेष्यति जानकी - रामायण ६१४.४९

[6] पोजीशन ऑफ विमेन इन एनाशियेन्ट इन्डिया पृ० - २१८

[7] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०-३२

कुछ उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाभारत में भीम का अनार्य हिडिम्बा और अर्जुन का अनार्य उलूपी से विवाह संबंध होता है। जैसे-जैसे आर्य और अनार्यों का सम्पर्क बढ़ता गया और ऐसे संबंध बहुत सामान्य होते गये आर्य स्त्रियों का सामाजिक स्तर गिरता गया।[1]

वैदिक बलि पति-पत्नी के द्वारा सम्मिलित रूप से दी जाती थी। आरण्यक और श्रौत सूत्र में स्त्रियों के द्वारा वैदिक बलि के अवसर पर उपस्थित रहने और सम्मिलित रूप से पति-पत्नी द्वारा बलि देने का उल्लेख है। वे पुरूषों की ही भाँति अकेले भी अपनी दैनिक वैदिक प्रार्थना कर सकती थीं। राम के राज्याभिषेक के अवसर पर कौशल्या राम के सौभाग्य और कुशल, मंगल के लिये बहुत सी बलि देती हैं। तारा भी सुग्रीव के बालि से द्वन्द्व युद्ध के समय बलि कार्य में संलग्न दिखती हैं। रामायण में सीता भी संध्या काल में वैदिक प्रार्थना करती हैं।[2] किन्तु स्त्री के व्यक्तित्व को दबाने का प्रयास गृहसूत्र से मिलता है जहाँ उसे वैदिक मन्त्रों की रचना और उच्चारण न करने की चेतावनी कठोरता से दी जाती है।[3] अब वह घर की अग्निपूजा तो पहले की ही भाँति कर सकती थी, किन्तु बड़े धार्मिक कृत्यों से, जो सार्वजनिक रूप से आयोजित होते थे, के लिये आयोग्य मान ली गई।

ए० एस० अल्टेकर स्त्रियों के इस अपकर्ष के लिये आर्यों के साथ अनार्य स्त्रियों का सम्पर्क मानते हैं। उनके अनुसार आर्यो की दस्यु विजय के उपरान्त

---

1. आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०-३२
2. आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०-३०
3. पोजीशन ऑफ विमेन इन एनशियेन्ट इन्डिया पृ०-२१७

ही अनुलोम विवाह प्रचलित हो गये थे। इन अनार्य स्त्रियों की विद्यमानता ने नारी के पतन में योग दिया। अनार्य स्त्री संस्कृत भाषा के ज्ञान के अभाव में धार्मिक प्रक्रियाओं में भाग लेने में असमर्थ थी। उसे धार्मिक कृत्यों के लिये अयोग्य घोषित कर दिया गया था, किन्तु आर्य अपनी विशेष प्रिय अनार्य पत्नी को ही यज्ञ में सहयोगिनी बनाना चाहता होगा। अतः इसके समाधान में समस्त स्त्री जाति को ही धार्मिक प्रक्रियाओं की अनाधिकारिणी घोषित कर दिया गया।[1]

गान्धारी, द्रौपदी, कौशल्या, कुन्ती आदि रानियों का प्रभाव हम राजदरबार में तो देखते हैं किन्तु पूर्ण अधिकार से शासन करने वाली स्त्रियों का कहीं उल्लेख नहीं है। महाभारत के युद्ध के पश्चात भीष्म युधिष्ठिर को सलाह देते हैं कि युद्ध में पुत्रों के मारे जाने पर राजा पुत्री का राज्याभिषेक करे, किन्तु यह कहीं भी व्यवहार में परिलक्षित नहीं होता है। समाज का अपना जो विचार था उसके अनुसार स्त्रियों की अपनी प्राकृतिक कमजोरियाँ हैं और वे एक योग्य रानी (राजा जैसी) और प्रशासिका नहीं बन सकती हैं।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में उसकी स्थिति वैदिक युग के समान ही थी। विधवा को पति की सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं था न ही पुत्री का भाईयों के रहते पिता की सम्पत्ति पर अधिकार था। स्त्रीधन की भी व्यवस्था वैदिक युग के ही समान थी। ब्राह्मण संहिताओं के अनेक उदाहरणों से पता चलता है कि स्त्रियों का बड़ा आदर एवं सम्मान था। ऐतेरेय उपनिषद् में नारी के प्रति कर्त्तव्य निर्वाह का कथन है। ऐतेरेय उपनिषद् एवं वृहत् उपनिषद में विद्वान पुत्री की प्राप्ति की

---

1. "पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दु सिविलाईजेशन" पृ०-२४३

इच्छा का भी संकेत मिलता है।[1] छांदोग्य उपनिषद में भी जानश्रुति-पौत्रायण एवं रैक्व प्रसंग में कन्या की उच्चस्थिति का उल्लेख है।[2] विवाह के बाद पति का पत्नी को अरून्धती आदि नक्षत्र दिखलाने का अभिप्राय कन्या की कामना है।[3] इसी प्रकार विवाह संस्कार में पति का स्त्री की अंगुलियों को पकड़ने का अभिप्राय भी कन्या की कामना ही है।[4] अथर्ववेद में उत्पन्न कन्या की रक्षा तथा उसे विक्षिप्त या दुखी न करने का विवरण प्राप्त होता है।[5] तैत्तरीय संहिता के एक प्रसंग से पुत्र एवं पुत्री के लिंग-भेद विषयक भिन्न स्थिति का भी परिचय प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि जब शिशु पुत्र होता था तो उसे उल्लास से उठा लिया जाता था, और जब कन्या होती थी तो उसे माँ के पास ही रहने दिया जाता था। इससे यह प्रतीत होता है कि पुत्री के जन्म पर असन्तोषजनक स्थिति पैदा हो जाती थी।

इस युग के ग्रन्थों का अवलोकन करने से बड़ी भ्रमात्मक स्थिति उत्पन्न होती है। एक ओर तो उसकी स्थिति बहुत ही उच्च दिखाई देती है वहीं कहीं-कहीं उसका स्थान बुरे शुद्र से भी नीचा बताया गया है।[6] मैत्रायणी संहिता में स्त्रियों को मद्य एवं जुये के सदृश कहा गया है। इसी संहिता में उसे अनृत्य, नैऋति और आयन्ति भी कहा गया है।[7] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार स्त्री शूद्र,

---

[1] ऐतेरेय उपनिषद २/५, वृहद उपनिषद् ६/४/१७
[2] छांदोग्य उपनिषद् ४/२१५
[3] काठकगृहसूत्र २५/४५
[4] आश्वलायन गृहसूत्र
[5] अथर्ववेद ८/६/२५
[6] तैत्तिरीय संहिता
[7] मैत्रायणीसंहिता १/१०/११

कुत्ता एवं कौआ में असत्य, पाप और अंधकार विराजमान रहता हैं[1] और उनके हृदय भेड़िये के हृदय हैं।[2] महाभारत के अनुशासन पर्व में तो उन्हें एक साथ ही उस्तुरा की धार, (क्षुरे की धार) विष, सर्प और अग्नि कहा गया है।[3]

उक्त विश्लेषण से इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि स्त्रियों के बारे में ये परस्पर भिन्न मतवाद चौकाने वाले है। जहाँ तक चरित्र, स्वभाव, गुण-दोष का तात्पर्य है तो यह किसी काल विशेष की सापेक्षिक उपज नही हैं। और ऐसा भी नही है कि किसी वर्ग विशेष में ही ये हो सकते है अन्य में नहीं। अन्तर केवल दृष्टि का है। अतः केवल स्त्री में ही दोष है ऐसा नही है चूँकि ये शास्त्रकार अधिकतर पुरूष थे और समाज में व्याप्त समस्त कुविचारों, दोषो को स्त्रियों के मत्थे मढ़कर स्वयं को निर्दोष साबित करके दोषमुक्त हो जाते थे, और जब दोषमुक्त हो जाना इतना आसान हो तब स्वयं के ऊपर दोष लगाना किसी को भी क्यों अच्छा लगेगा? इन शास्त्रकारों ने नारी की केवल निन्दा ही नही की है, अपितु स्थान-स्थान पर प्रशंसा भी की है। इन शास्त्रकारों का कार्य समाज में व्याप्त दोषों का निवारण करना था, समाज को नियम बद्ध करना था, अतः इस प्रक्रिया में अत्यन्त कटु भाषा के द्वारा समाज को सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा में किसी वर्ग विशेष पर यदि अनावश्यक टिप्पणी इनके द्वारा की जाये तो यह इन शास्त्रकारों की अनाधिकृत चेष्टा ही कही जायेगी। वैसे पत्नी को पुरूष का आर्धांग[4] और "जाया"[5] कहकर स्वयं के पुत्र रूप में उत्पन्न होने की उच्च

---

[1] १४/१/१/३१

[2] ११/५/१/९

[3] महाभारत-अनुशासन पर्व ३८/२९

[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३/३.३.५

[5] शतपथ ब्राह्मण-कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया से उद्धृत पृ०-२००

संकल्पना भी इन्हीं ग्रन्थों की देन है। ऐतेरेय ब्राह्मण और गोपथ ब्राहाण में भी स्त्री को पुरूष का अर्धांग कहा गया है और उस अर्धांग की प्राप्ति के बिना वह (पुरूष) पूर्ण नही हो सकता है।

(ग) स्मृति-पुराण-बौद्ध युग

स्मृति-पुराण-बौद्ध युग में स्त्री की दशा में उत्तरोत्तर अपकर्ष होता रहा अब वे विवेकहीन करार दे दी गई। समाज, परिवार में उनका स्थान दूसरे दर्जे का हो गया। उपनयन संस्कार औपचारिक मात्र रह गया। यदि स्त्री का उपनयन न हो तो वह शूद्र हो जाती है, और ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य के लिये यह कष्ट की बात थी कि वे शूद्रा माँ से उत्पन्न है अतः मनु ने यह व्यवस्था दी कि स्त्रियों के संस्कार बिना मंत्र के हो-

नास्ति स्त्रीणां किया मन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।

निरिन्द्रिया ह्यन्मन्त्राश्च ऽनृतामिति स्थितिः॥[1]

शास्त्र की मर्यादा के अनुकूल स्त्रियों का संस्कार मन्त्रों से नही होता है। स्मृति, धर्मशास्त्र और किसी मन्त्र में इनका अधिकार नही है, अतः इनकी स्थिति असत्य के सदृश है। अमन्त्रक उपनयन अपने आप में विरोधाभास हो गया। यद्यपि कुछ स्मृतिकारों ने उपनयन संस्कार को आने वाले समय में भी जारी

---

[1] मनुस्मृति (पृ० ४३४) ९/१८

रखने की वकालत की, फिर भी याज्ञवल्क्य और परवर्ती स्मृतिकारों ने उपनयन संस्कार की आज्ञा नही दी।[1] स्त्रियों द्वारा बलि देने की प्रक्रिया भी अमन्त्रक होती थी।[2] उपनयन में रुकावट आने से और इसके विवाह संस्कार के साथ ही सम्पादित होने से स्त्रियों की सामाजिक और पारिवारिक दशा में ह्रास हुआ। इस संबंध में अल्टेकर का मत है कि, "मनु और याज्ञवल्क्य यहाँ से एक नवीन सिद्धान्त की शुरूआत करते है कि कन्याओं के सन्दर्भ में विवाह उपनयन संस्कार के लिये सम्पादित किया जायें। उनका पति उनका गुरू हो, उनकी सेवा गुरु-सेवा और सम्पूर्ण ग्रह-प्रबन्ध के माध्यम से बलि कार्य हो।[3] पूर्ववर्तीकाल में अनार्यों को उपनयन का अधिकार नही था और जब स्त्रियों को भी इससे वंचित कर दिया गया तो उनका स्तर शूद्रों के बराबर हो गया।

३०० ई० पू० में यह प्रतिपादित किया जाने लगा कि स्त्रियॉं शूद्रवत् वेदो का अध्ययन करने लिये अनुपयुक्त है। स्त्रियों के संबंध में यह कितने दुर्भाग्य की बात है कि वे उस भाग का भी अध्ययन भी नही कर सकती हैं जिसकी रचना उन्होनें स्वंय की है। यह उपनयन संस्कार के क्रम-भंग का तार्किक उपसंहार था।[4] ऐतिशायन ने स्त्रियों द्वारा पति के साथ वैदिक बलि में भाग न लेने की व्यवस्था दी। जैमिनी ने यद्यापि बलि-कार्य पति-पत्नी द्वारा संयुक्त रूप से सम्पन्न करने की बात कही तथापि उन्होनें यह प्रतिपादित किया कि पत्नी पति की बराबरी नही कर सकती क्योंकि वह अज्ञानी है, और उसका पति विद्वान।[5] वेदों

---

[1] ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया पृ०-३३

[2] मनुस्मृति ३/१२९

[3] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०-३४

[4] वही पृ०-३४

[5] पूर्व मीमांसा ६/१/२४

की विवाह संबंधी ऋचाओं में आशा की जाती है कि वधू अपने नये गृह की स्वामिनी होगी। स्मृति में विवाह संबंधी श्लोकों में कहा गया है कि पत्नी पति के लिये वैसी ही है जैसे एक शिष्य आचार्य के लिये। ३०० ई० से औसत स्त्रियाँ चाहे वे समाज के संस्कारित भाग की हो, फिर भी अपने पति से कम शिक्षित होती थी। अल्पायु में विवाहित हो जाने पर उन्हें विकास के अवसर नही मिलते थे। उनकी मानसिक और बौद्धिक प्रगति बौनी हो गई और इस तरह वे न केवल शिक्षा में अपने पति की तुलना में हीन हो गई, अपितु अपने दृष्टिकोण में भी संकुचित हो गईं।[1] पुरूष के मुकाबले स्त्रियों की इसी हीनतर स्थिति ने मनु और अन्य स्मृति कारों द्वारा उसे संरक्षण की वस्तु बनाने की वकालत करने दी। [मनु के मतानुसार स्त्री की रक्षा कौमार्यावस्था मे पिता करे, युवावस्था में पति करे और वृद्धावस्था में पुत्र करे, क्योंकि स्त्री स्वतंत्रता प्राप्त करने योग्य नही है।[2]] अरक्षित स्त्री पिता और पति दोनो के कुले को संतापित करती है।[3] न तो वह रूप की परीक्षा करती है, न अवस्था पर ध्यान देती है, सुरूप वा कुरूप कैसे भी पुरूष को पाकर उससे प्रणयरत होती है।[4] पुरूष को देखते ही भोग की इच्छा, चित्त की चञ्चलता और स्वाभाविक हीनता के कारण पति से उत्तम रीति से शिक्षित होने पर भी पति के विरूद्ध आचरण करती है।[5] विधाता ने ही स्त्रियों को ऐसा बनाया है, इस प्रकार का स्वभाव जानकर पुरूष को स्त्री की रक्षा के लिये यत्न करना चाहिये।[6]

---

1. *आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इन्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०-३५*
2. मनुस्मृति ९/३
3. वही ९/५
4. वही ९/१४
5. वही ९/१५
6. वही ९/१६

बालिका, युवती व वृद्धा तीनों को किसी भी अवस्था में घर के किसी कार्य में स्वतंत्रता का अधिकार नही है।[1] याज्ञवल्क्य का भी यही मत है, वे भी नारी को प्रति पल रक्षणीय मानते है। यदि पति समीप न हो तो पिता, भाई, माता, पुत्र, सास-ससुर, मामा की निगरानी में रहे।[2] मनु तो स्त्री को इतना विवेक शून्य मानते हैं कि वे पुरूषों को अनायास ही दोष लगा देती हैं, उनका स्वभाव ही ऐसा है, अतः बुद्धिमान व्यक्ति स्त्रियों के बीच असावधानी से नही रहते है।[3] माता, बहिन, पुत्री के साथ भी एकान्त वास नहीं करना चाहिये।[4] पत्नी के लिये पति ही सर्वस्व है, अतः कन्या को पिता या पिता की सलाह पर भाई इत्यादि जिसको दे दे उसकी जीवन पर्यन्त सेवा करे और मरने के बाद भी उसका उल्लंघन न करे।[5] स्त्रियों को पति के बिना यज्ञ, व्रत, तथा उपवास नही करना चाहिये।[6] पतिलोक की इच्छा करने वाली साध्वी स्त्री जीते हुये अथवा मरे हुये पति का कुछ भी अप्रिय आचरण न करें।[7] पवित्र पुष्प, मूल और फलों से अवश्य शरीर को कृश कर दे, किन्तु पति के मरने के पश्चात दूसरे पुरूष का नाम भी न लें।[8] जो स्त्री अपने नीच वर्ण वाले पति को त्याग कर उत्तम वर्ण वाले दूसरे पुरूष की इच्छा करती है, वह संसार में निन्दा का पात्र बनती हैं। उसको मनुष्य परपूर्वा कहते हैं। अतः स्त्री नीच वर्ण वाले पति की ही सेवा करें।[9] मनु का तो

---

[1] मनुस्मृति-५/१४७

[2] याज्ञवल्क्य समृति पृ० २३-श्लोक ८५-८६

[3] मनुस्मृति २/११३

[4] वही २/२१५

[5] वही ५/१५१

[6] वही ५/१५५

[7] मनुस्मृति- ५/१५६

[8] मनुस्मृति - ५/१५७

[9] मनुस्मृति - ५/१६३

यहां तक कथन है कि यदि कोई स्त्री पिता, भाई आदि लोगों के अभिमान पर अपने पति की आज्ञाकारिणी नहीं होती तो उसे राजा बहुत से आदमियों के सामने कुत्तों से नुचवावे।[1] पति का उल्लंघन करने से स्त्री की इस लोक में निन्दा होती है और मरने के बाद वह सियार योनि में उत्पन्न होती है तथा बड़े-बड़े रोगों से पीड़ित होती है।[2] नारद स्मृति के व्याख्याकार असहाय ने इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि स्त्री उच्च शिक्षा के योग्य नहीं है, क्योंकि क्या सत्य है और क्या असत्य है, इसका समुचित ज्ञान इन्हें नहीं है। यह गहन शास्त्रीय अध्ययन पर आधारित है। इसलिये वे पुरूषों, जो कि ज्यादा शिक्षित है और विकसित प्रज्ञा वाले हैं के संरक्षण में रहें।

इस समय वैदिक धर्म का ह्रास और स्मार्त्त-पौराणिक धर्म का उदय हुआ। यह आश्चर्य की बात है कि स्त्रियाँ स्मार्त्तों की पारिवारिक बलि और पौराणिक व्रतों से वंचित नहीं की गई। अल्टेकर के मत में तो वे पुरूषों की तुलना में इस नये लोकप्रिय पौराणिक धर्म की संरक्षक थी।[3]

बौद्ध धर्म और जैन धर्म के प्रसार स्वरूप भारतीय समाज में सन्यास धर्म का प्रभाव बढ़ा। इससे भी स्त्रियों की दशा में अपकर्ष हुआ। समस्त विश्व के पुरुष सन्यासी स्त्रियों को सभी पापों और कष्टों का मूल कारण मानते हैं। सुकरात स्त्री को सभी पापों का मूल एवं टर्टलिन 'नरक का द्वार' मानते है।

---

[1] मनुस्मृति- ८/३७१

[2] मनुस्मृति - ९/३०

[3] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इण्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०-३७

वराहमिहिर ने वृहत् समाहित में उल्लेख किया है कि सन्यास धर्म को मानने वाले स्त्रियों की निन्दा में अभ्यस्त थे।

बौद्ध धर्म में स्त्रियों को आध्यात्मिक उच्चादर्शों की प्राप्ति के लिये साध्वियों के रूप में आने की आज्ञा मिली। बौद्ध साध्वियों की रचना थेरी गाथा में उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियों का प्रकाशन है। अपने उच्च आध्यात्मिक स्तर के कारण ये "थेरी" का पद प्राप्त करने में समर्थ हुई थीं। इनमें से ३२ थेरियाँ आजीवन ब्रह्मचारिणी रही थीं। इनमें शुभा, सुमेधा, तथा अनुपमा के नाम उल्लेखनीय हैं। मठों में उनका स्थान पुरूषों से निम्न था। वे नवागन्तुक स्त्रियों की शिक्षिका हो सकती थीं, पुरूषों की नहीं। मठ संबंधी प्रबन्धन में भी उन्हें पुरूषों की तुलना में हीनतर स्थिति प्राप्त थी।

जैन धर्म में भी स्त्रियों के दीक्षित होने का उदाहरण प्राप्त है। कौशाम्बी के राजा सहस्रानीक की पुत्री जयन्ती और कुण्डलकेशा के सन्दर्भ उल्लिखित है।

स्त्रियों के लिये विवाह संस्कार आवश्यक कृत्य था। स्वयंवर की प्रथा पूर्णतया समाप्त हो गई। विवाह की उम्र कन्याओं के लिये १२ वर्ष निश्चित कर दी गई। मनु ने तीस वर्ष का पर और बारह वर्ष की कन्या तथा चौबीस वर्ष का वर और आठ वर्ष की कन्या के विवाह की व्यवस्था दी।[1] बालिकाओं की शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। औसत स्त्रियाँ बड़ी मुश्किल से किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त कर पाती थीं। बौद्ध युग में स्त्री शिक्षा का कुछ प्रचार-प्रसार परिलक्षित होता है। अशोक की पुत्री संघमित्रा बौद्ध धर्म के प्रसार के लिये ही

---

[1] मनुस्मृति- ९/९४

श्रीलंका गई थी, यह उसके शिक्षित होने का प्रमाण है। थेरीगाथा की थेरियॉ भी शिक्षित एवं काव्य कला में निपुण थीं। यद्यपि बौद्ध साहित्य में भिक्षुणियों की शिक्षा और उसकी पद्धति के विषय में कोई सूचना नहीं मिलती है तथापि इतना तो निश्चित है कि उनकी शिक्षा उपेक्षित नहीं रही होगी।

-- स्त्रियाँ किसी प्रकार का व्यवसाय नहीं करती थीं। सुसंस्कृत परिवारों में कुछ स्त्रियाँ ऐसी भी थी, जिन्होंने लेखिका और कवयित्री के रूप में अपने को स्थापित किया। इस युग में किसी स्त्री शिक्षिका का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। कुछ स्त्रियाँ संगीत और नृत्य कला का संवर्धन कर रही थीं, जो उनके पारिवारिक लाभ के लिये था। संगीत और नृत्य को व्यवसाय के रूप में अपनाना तत्कालीन वर्जनापूर्ण समाज में संभव न था। कताई, बुनाई, पति की मृत्यु के पश्चात दुर्भाग्य के समय जीविका का एकमात्र सहारा थे।

सम्पूर्ण अधिकार के साथ शासन करने वाली किसी रानी का उल्लेख नहीं मिलता है। स्वत्वाधिकारिणी विधवा रानियाँ अवश्य थीं जैसे-- नायनिका और प्रभावती गुप्ता आदि। इन्होंने लम्बे समय तक कुशलतापूर्वक बड़े-बड़े राज्यों पर शासन किया। राज्यों के प्रशासन में किसी स्त्री अधिकारी का उल्लेख नहीं मिलता है।

-- पर्दे का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था, किन्तु अभी इसका प्रचलन राज्यों के अंतःपुर तक ही सीमित था। सम्पूर्ण समाज इससे अछूता था,लगभग सभी क्षेत्रों में नारी की स्थिति सन्तोषजनक न कही जा सकने पर भी, सम्पत्ति के अधिकार के संबंध में उसकी स्थिति काफी सुदृढ़ थी। पुत्रहीन पिता की सम्पत्ति में पुत्री

को पहले की ही तरह अधिकार प्राप्त था। इस संबंध में मनु का कथन है कि जैसे पुत्र आत्मा के तुल्य होता है, वैसी कन्या भी पुत्र के समान है, इसलिये पुत्रिका कन्या के होते अन्य कोई धन का भागी कैसे हो सकता है।[1] अविवाहित पुत्रियों को सम्पत्ति में अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठना था, क्योंकि इस युग में स्त्रियों के लिये विवाह आवश्यक हो गया था। सन्तानहीन पुत्र की सम्पत्ति माता को मिलती थी, माता के मरने पर दादी को मिलती थी।[2] पुरुष यदि मृत्यु से पूर्व संयुक्त परिवार से पृथक हो जाये तो उसकी विधवा को उसकी सम्पत्ति का अधिकार था।[3] ४०० ई० पू० के धर्मसूत्रों के लेखकों ने विधवा के अधिकार का उल्लेख नहीं किया है। ३०० ई० पू० में मनु ने भी लिखा है कि पुत्रहीन व्यक्ति की सम्पत्ति दूर के सपिण्डों में बांट दी जाये। माता का धन पुत्रियों को मिलता था।[4] सर्वप्रथम विष्णु स्मृति में (ई० पू० १०० श० में) विधवाओं के अधिकार का समर्थन किया गया जिसमें यह कहा गया कि पुत्रों के अभाव में विधवा को अपने पति की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार है। याज्ञवल्क्य (२००ई०) ने भी विष्णु के समान विधवा के सम्पत्ति अधिकार का समर्थन किया। उनके मत से पिता के मरने पर यदि भाई लोग धनादि का विभाग करें तो माता को सबके बराबर हिस्सा मिलना चाहिए।[5] विष्णु और याज्ञवल्क्य द्वारा विधवा को पति की सम्पत्ति का उत्तराधिकार देना क्रान्तिकारी था। नारद जैसे लेखकों ने इस नई व्यवस्था का विरोध किया, उन्होंने दृढ़तापूर्वक घोषित किया कि सन्तानहीन व्यक्ति की

---

1. मनुस्मृति- ९/१३०
2. मनुस्मृति - ९/२१७।
3. ग्रेट विमेन आफ इण्डिया पृ०-३८
4. याज्ञवल्क्य स्मृति - पृ०-१३५
5. याज्ञवल्क्य स्मृति- दायभाग प्रकरण- १२३

सम्पत्ति शीघ्र ही राजसत्ता को प्राप्त हो और उनसे विधवाओं के केवल जीविकानिर्वाह के प्रबन्ध की अपेक्षा थी। इन दोनों विचारों के अतिरिक्त मध्य मार्ग भी है। जिसके अनुसार विधवा को केवल चल सम्पत्ति का ही अधिकार होगा। वह अस्थगित वारिस होगी और सास-ससुर, देवर-जेठ के न रहने पर ही सम्पत्ति की अधिकारिणी होगी।

स्त्रियों का विवाह-विच्छेद या पुनर्विवाह नहीं होता था, किन्तु कुछ प्रकरणों से विधवा विवाह का संकेत मिलता है। कहीं-कहीं विवाह न करने वाली विधवाओं को सम्पत्ति में अधिकार देने की वकालत भी की गई हैं।" यदि एक विधवा विवाह न करें या उसके नियोग से एक पुत्र हो तो उसे परिवार की सम्पत्ति में उचित भाग मिलना चाहिए, ताकि वह स्वयं को सम्मानजनक जीवन जीने के योग्य बना सके।[1] सगाई के पश्चात वर की मृत्यु हो जाने पर उस कन्या का विवाह उसके देवर के साथ कर देने का विधान था।[2]

नियोग का भी प्रचलन था। अपने पति से सन्तान न होने पर स्त्री पति की आज्ञा से देवर या अन्य सपिण्ड पुरुष से पुत्र की अभिलाषा कर सकती थी।[3] और यदि कोई सम्पत्ति छोड़कर निःसन्तान मर जाये तो उसका छोटा भाई उसके धन और स्त्री की रक्षा करता था तथा उसकी स्त्री में पुत्र उत्पन्न करके ज्येष्ठ भाई की सारी सम्पत्ति उसको दे देता था।[4]

---

[1] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इण्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०-३८

[2] मनुस्मृति- ९/६९

[3] मनुस्मृति - ९/५९

[4] मनुस्मृति- ९/१४६

स्त्रीधन को भी अच्छी तरह से व्याख्यायित किया गया। याज्ञवल्क्य ने तीन प्रकार के धन को स्त्रीधन कहा है। कन्या की माता और पिता ने, बन्धुओं ने जो धन दिया वह बन्धुदत्त, वर से धन लेकर जो कन्या दी जाय वह शुल्क, विवाह के पीछे मुँहदिखरौनी आदि में जो धन पति के कुल से मिले वह अन्वाधेयक कहलाता है, ये तीनों प्रकार के धन "स्त्रीधन" कहलाते हैं[1] और स्त्रीधन केवल पुत्रियों को ही मिल सकता है।[2] देवल स्मृति (६०० ई०) में स्त्रीधन का विस्तार किया गया। जीविका निर्वाह के साधन, गहने, दुर्घटना के समय प्राप्त धन भी स्त्रीधन है।[3] स्त्रियों को इस बढ़े हुये स्त्रीधन के विक्रय का अधिकार नहीं था जैसा कि "सौदायिक" सम्पत्ति का था। स्त्रियों के द्वारा अर्जित मजदूरी को इसके अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता था।

जहाँ नीच वर्ण वाले पति को भी स्त्री द्वारा न त्यागने की व्यवस्था दी जाती है, वहीं पुरुषों के लिये यह भी व्यवस्था थी कि वे मद्य पीने वाली, दुश्चरित्रा, पति से द्वेष करने वाली, असाध्य रोग वाली, सदा धन नष्ट करने वाली स्त्री के रहते हुये भी दूसरा विवाह कर लें।[4] याज्ञवल्क्य स्मृति में तो जिस स्त्री के कन्या ही उत्पन्न होती हो उसके रहते दूसरा विवाह कर लेने का विधान बताया गया है।[5] मनु तो सभी स्त्रियों को छः दोषों से युक्त मानते हैं- मद्यपान, दुर्जनों का

---

[1] याज्ञवल्क्य स्मृति- दायभाग प्रकरण- १४४

[2] याज्ञवल्क्य स्मृति- दायभाग प्रकरण- १४४

[3] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इण्डियन विमेन इन सोशल लाईफ पृ०- ४०

[4] मनुस्मृति - ९/-

[5] याज्ञवल्क्य स्मृति- पृ०-२० श्लोक- ७३

संसर्ग, पति का विरह, इधर-उधर घूमना, कुसमय में सोना, और दूसरे के घर में रहना।[1]

स्त्रियों के प्रति इस प्रकार के विचार रखते हुये भी मनु "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता" कहकर स्त्रियों के सत्कार एवं सत्कारित स्थान पर देवता के निवास की बात कहते हैं और यह भी प्रतिपादित करते हैं कि जहाँ उनका सत्कार नहीं होता है, वहाँ सभी क्रियायें निष्फल हो जाती है।[2] जहाँ स्त्रियाँ शोक करती हैं वह कुल विनष्ट हो जाता है और जहाँ स्त्रियाँ शोक नहीं करती है वहाँ सर्वदा वृद्धि होती है।[3] अतः सम्पत्ति चाहने वाले मनुष्यों को उचित है कि उत्सव और आदर के समयों पर वस्त्र, आभूषण और भोजन से स्त्रियों का सदा आदर करें।[4] स्त्रियों के श्रृंगार करने से कुल सुन्दर मालूम होता है और उनके श्रृंगार न करने से सब नीरस (फीका) लगता है।[5] पिता द्वारा उचित समय पर विवाह न कर देने पर मनु कन्या को स्वयं वर चुनने की आज्ञा देते है।[6] जो कन्या उत्तम वर्ण के पुरुष को प्राप्त करती हैं उसे कुछ भी दोष नहीं है, पर जो नीच वर्ण के पुरुष का साथ करें उसे बन्द कर देना चाहिये।[7] स्मृतिकार यद्यपि दुर्गुणी स्त्री के रहते दूसरे विवाह की सलाह देते हैं, तथापि वे उसको घर से न निकालने की व्यवस्था देते है। उनके अनुसार मद्यादि का सेवन करने वाली को भी निकाल देने पर बड़ा अपराध लगेगा, अतः उसे भी भोजन वस्त्रादि देना

---

[1] मनुस्मृति- ९/१३
[2] मनुस्मृति ३/५६
[3] मनुस्मृति-३/५७
[4] मनुस्मृति-३/५९
[5] मनुस्मृति-३/६२
[6] मनुस्मृति ९/-
[7] मनुस्मृति -८/३७९

चाहिये।[1] यदि स्त्री आज्ञाकारिणी प्रिय भाषिणी, चतुर और वीर सन्तानों को जन्म देने वाली हो तो भी पत्नी का यदि पति त्याग करें तो राज्य उस पुरुष के धन में से तृतीयांश स्त्री को दिलाये और यदि पुरुष निर्धन हो तो भी राजनियम से स्त्री को भोजन वस्त्र दिलाना चाहिये।[2]

स्त्री के प्रति सम्मानीय भाव भी इन स्मृतिकारों ने व्यक्त किये हैं। मनु के अनुसार देवर के लिये ज्येष्ठ भाई की पत्नी गुरूपत्नी के समान होती है और छोटे भाई की स्त्री बड़े भाई के लिये पुत्रवधू के समान है।[3] मनु तो स्त्री और लक्ष्मी में कोई भेद नहीं करते हैं, क्योंकि घर बिना लक्ष्मी के शोभा नहीं पाता और लक्ष्मी बिना स्त्री के शोभित नहीं होती है।[4] मनु पुरुष शब्द की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि स्त्री, अपनी देह और सन्तान मिलकर पुरुष होता है, यह वेदज्ञ पण्डित कहते हैं अर्थात जो भर्त्ता है वही भार्या है। इन दोनों में कुछ भी भेद नहीं है।[5]

स्मृति-पुराण बौद्ध युग के बाद और मध्यकाल से पूर्व की स्त्रियों की दशा की चर्चा कर देना भी यहां अभीष्ट है। वैदिक काल से चली आ रही दीर्घकालीन स्वस्थ परम्परा में कालानुसार जो विकृतियाँ परिलक्षित होती है, यह काल भी उसका अपवाद नहीं है, शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति आदि व्यवस्थाओं में कोई प्रगति नहीं दिखाई देती। सातवीं शती में मुस्लिमों के आक्रमण के साथ ही हिन्दू स्त्रियों

---

[1] याज्ञवल्क्य स्मृति विवाह प्रकरण- ७४

[2] याज्ञवल्क्य स्मृति विवाह प्रकरण- ७६

[3] मनुस्मृति - ९/५७

[4] मनुस्मृति - ९/२६

[5] मनुस्मृति ९/४५

का कष्ट और बढ़ गया। यद्यपि बलपूर्वक धर्मान्तरण स्त्री पुरूष दोनों में समान था तथापि स्त्रियों को स्त्री होने का अतिरिक्त मूल्य चुकाना पड़ता था। १००० ई० से पूर्व की स्मृतियों में स्त्री के बलपूर्वक सतीत्वहरण के पश्चात भी उसके सामाजिक बहिष्कार की वर्जना थी। प्रायश्चित एवं शुद्धीकरण के पश्चात उनके समाज और परिवार में पुनर्प्रवेश की व्यवस्था थी। देवल स्मृति में तो इन दुर्भाग्यशालिनी स्त्रियों के बारे में यहाँ तक कहा गया है कि यदि वे इस प्रकार के अत्याचार से गर्भवती भी हो जायें तो भी उन्हें हिन्दू धर्म में पुनर्प्रवेश मिलना चाहिए। यह उदारवादी दृष्टिकोण १००० ई० से त्याग दिया गया। अब जो स्त्री इस्लाम धर्म में अन्तरित की जा चुकी हो, उसके हिन्दू धर्म में पुनर्प्रवेश की कोई गुंजाइश नहीं रह गई थी। अब वे उन्हीं आक्रमणकारियों के साथ समझौता करके कष्टपूर्ण जीवन जीने को बाध्य थीं जो एक रखैल के घृणास्पद जीवन से अच्छा नहीं था।

इस काल में स्त्रियों के सम्पत्ति संबंधी अधिकारों में अवश्य वृद्धि हुई, जिसका श्रेय सुधारवादी स्मृतिकारों, वृहस्पति प्रजापति और कात्यायन को जाता है। ये स्मृतियाँ आज उपलब्ध नहीं है और इनके संदर्भ के लिये मध्यकालीन संग्रहों का आश्रय लेना पड़ता है। वृहस्पति पुरुष और स्त्री को शास्त्रानुसार विधिज्ञ व्यक्तित्व मानते हैं और पत्नी के जीवित रहते हुये पति मृत नहीं कहा जा सकता है, इस मत के पक्षधर हैं। लेकिन भोज (१०५० ई०) के अनुसार निःसन्तान विधवा को पति की सम्पत्ति में तब तक अधिकार नहीं है जब तक वह नियोग से पुत्र न प्राप्त करें। यह नियम अपने आप में घृणित था, अतः समस्त सुधारवादी विचार स्वयं में ही विरोधमूलक थे।

इस घटाटोप अंधेरे में भी राजपरिवारों की कुछ स्त्रियॉ एवं राजकुमारियॉ शिक्षा, शासन, सैन्य संचालन की अपनी प्रतिभा से विद्युत समान क्षणिक ही सही परन्तु अपनी उपस्थिति का आभास कराती है। इनमें विजय भट्टारिका (६५० ई०), दिद्दा (११वीं शताब्दी) ने बड़े-बड़े राज्यों पर शासन किया। रानियों एवं राजकुमारियों द्वारा नगरों के शासन का भी उल्लेख मिलता है। इनमें जयसिम्ह तृतीय की बहन अक्कादेवी (१०५० ई०), सोमेश्वर की रानी मेलादेवी (१०५० ई०), विक्रमादित्य चतुर्थ की पटरानी लक्ष्मीदेवी (११०० ई०) उल्लेखनीय है। कुतुबुद्दीन के आक्रमण का प्रतिरोध करने वाली राजा समरसी की, पत्नी कुर्मा देवी भी उल्लेखनीय है।

उक्त कालावधि को दृष्टिगत करते हुये इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि स्त्रियों की दशा में उत्तरोत्तर ह्रास होता गया। धार्मिक, सामाजिक दोनों स्थितियों में उसका स्थान नगण्य रह गया, केवल पुरुष की अनुरंजनकारी व्यवस्था के रूप में ही उसका स्थान सुरक्षित रह सका। आर्थिक स्थिति में अवश्य सुधार परिलक्षित होते हैं, किन्तु ये सुधार वास्तव में केवल सिद्धान्त रूप ही रहे होंगे, क्योंकि व्यवहार में इन्हें प्रयोग करना, किसी स्त्री के लिये वह भी तत्कालीन समाज में कठिन ही नहीं असम्भव भी रहा होगा। यह तो किसी रुग्ण व्यक्ति को चिकित्सा के स्थान पर मधुपान कराने के सदृश अवांछनीय है, फिर भी इसका कुछ अच्छा प्रभाव तो अवश्य पड़ा।

—⊛—

द्वितीय अध्याय

मध्यकाल में नारी के प्रति दृष्टिकोण एवं उसकी स्थिति

वैदिक युग की प्रशस्तिमती शूर-वीर बाला मध्यकाल मे अवगुण्ठनमती नारी में परिणत हो गई। राजनैतिक पराभव के इस युग में साहित्य एवं समाज दोनो में नारी ने ही अपनी सर्वाधिक मर्यादा खोयी है। नैतिक मानदण्ड शिथिल हो रहे थे। तन्त्रयान एवं वज्रयान मे स्त्रियों का सहज प्रवेश एवं साधना मे उनकी अनिवार्यता पर बल भी उनके पतन का कारण बनें। इससे उनकी आध्यात्मिक उपलब्धियॉ चाहे जो भी रही हो, लेकिन यह उनके शारीरिक एव मानसिक शोषण में अधिक सहायक हुआ। देवदासी प्रथा के द्वारा मन्दिरों में भी भक्ति की ओट में वे प्रच्छन्न शोषण का पात्र बनीं। ११वीं शती के आचार्य क्षेमेन्द्र की कृतियों "समय-मात्रिका" एवं "कुट्टनी मित्तम" से तत्कालीन सामाजिक स्वरूप का दिग्दर्शन होता है।

आलोच्यकाल की प्रथम शती मुस्लिम आक्रमणो के आतक की शताब्दी थी। उत्तर भारत में १४वीं शताब्दी के बाद ही मुसलमानो की सत्ता सुदृढ हो गई थी।' एव दक्षिण में वे सत्ता के लिये सघर्षरत थे।

इस अध्याय में हम इस युग में नारी की स्थिति का आकलन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक दृष्टिकोण से करेंगे।

(क) राजनैतिक

राजनैतिक रूप से यह युग हिन्दुओ के पराभव का है। आलोच्य काल में केवल कुछ समय (लोदी वंश के शासन की अवधि) छोडकर अधिकाश समय

' सगुण एव निर्गुण साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन आशा गुप्ता- पृ० २७

मुगलों का ही शासन था। दिल्ली पर मुगलों का शासन था, तथापि बहुत से स्वतंत्र राज्य थे। राजस्थान, मध्यप्रदेश में राजपूतों के कई राज्य थे। बंगाल, बिहार उड़ीसा में अफगानों का शासन था। मराठा शक्ति भी समन्वित हो रही थी। दक्षिण में मुस्लिमों के छोटे-छोटे कई राज्य थे।

इस प्रकरण में अध्ययन का विषय है- राजनीति को महिलाओं ने प्रभावित किया तो किस तरह और राजनीति ने महिलाओं को किस तरह प्रभावित किया। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि मध्ययुग में स्त्रियों की राजनीति में भागीदारी विशेष परिस्थितियों की ही उपज है। केवल राजपरिवार की रानियाँ और राजकुमारियाँ ही राजनीति से प्रभावित थीं, साधारण स्त्रियों के लिये राजनीति में कोई स्थान नहीं था।

प्रारम्भ मुस्लिमों से ही करते हैं, क्योंकि केन्द्र में उन्हीं का शासन था। इस्लाम में स्त्री को पत्नी, पुत्री, बहन के रूप में सम्मान प्राप्त था और "इस्मत पनाह" एवं "इफ़तमाब" जैसे रक्षात्मक सूचक भारी भरकम शब्द उसके विशेषण थे।[1] सईद और लोदी शासकों को छोड़कर अधिकतर शासक तुर्क और मंगोल वंश के थे। तुर्क महिलायें अन्य महिलाओं की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता का उपभोग करती थीं। युद्ध और शान्ति की समस्या पुरुषो की ही तरह उनके लिये भी थी।[2] अपने पुरुष सम्बन्धियों पर इनका बहुत प्रभाव था और वे महत्वपूर्ण मसलों पर अपनी राय देती थीं। फरगना के राज्य को हस्तगत करने में बाबर के बुद्धिमान सलाहकारों में उसकी माँ "कुतलक निगार" और बहन "खानजादे

[1] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया के, ग्रेट मुस्लिम विमेन ऑफ इण्डिया से - पृ०-३७८

[2] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया के ग्रेट मुस्लिम विमेन ऑफ इण्डिया से - पृ-३७९

बेगम'' भी थी।[१] हुमायूँ अपने घर की स्त्रियों से सलाह-मशविरा करता था और उसने उनसे मिलने के लिये तीन दिन निश्चित किये थे।

मुगलों से पूर्व सुल्तानों के शासन काल में स्त्रियों का कोई योगदान नहीं था। रजिया सुल्तान इसका अपवाद थी। गुलामवंश के शासक इल्तुतमिश की पुत्री रजिया दिल्ली के सिंहासन पर बैठने वाली एकमात्र स्त्री है। इल्तुतमिश पुत्रों की योग्यता के बारे में शंकित थे अतः उन्होंने रजिया सुल्तान को योग्य उत्तराधिकारी मानते हुये शासक नियुक्त किया। वह बुद्धिमान शासिका ही नहीं वरन् साहसी भी थी। फरिश्ता के अनुसार स्त्री के रूप में जन्म लेने के अतिरिक्त उसमें कोई दोष नहीं थी। (स्त्री योनि में जन्म लेना भी दोष की श्रेणी में गिना जाता था) जहाँगीर के शासन काल में नूरजहाँ का राजनीति में बहुत हस्तक्षेप था। इसका कारण जहाँगीर का राजनैतिक अकौशल एवं उसका विलास-वैभव की तन्द्रा में डूबा रहना था। नूरजहाँ फारस के दरिद्र और बहिष्कृत सामंत मिर्जा घयात बेग की पुत्री थी, जिसने अपने बुद्धि कौशल एवं चातुर्य के बल पर न केवल जहाँगीर के हृदय अपितु परोक्ष रूप में साम्राज्य पर भी गयारह वर्ष तक शासन किया। उसका असली नाम ''मिहर-उन-निसा बेगम'' था जिसे जहाँगीर ने नूरमहल (महल का नूर) एवं नूरजहाँ (संसार का नूर) से अभिहित किया।[२] जहाँगीर केवल उसके बाह्य गुणों से ही प्रभावित नहीं था, अपितु उसके बौद्धिक गुणों से भी प्रभावित था। भारतीय इतिहास में नूरजहाँ की तरह की कोई दूसरी स्त्री नहीं हुई जिसने अपने पति को इस तरह प्रभावित किया। वह अत्यन्त

---

[१] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया के ग्रेट मुस्लिम विमेन ऑफ इण्डिया से- पृ० -३७९

[२] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया- पृ०-३८४

रणकुशल भी थी। उसकी वीरता का प्रमाण उसका जहाँगीर को महावत खॉं की कैद से छुड़ाना है।

शाहजहाँ की पुत्री जहाँआरा बेगम (१६१३-८३) ने राजनीति में शाहजहाँ की बहुत सहायता की। जहाँआरा में सौन्दर्य और बुद्धिमत्ता का अद्भुत सम्मिश्रण था। "बेगम साहिब" के नाम से प्रसिद्ध जहाँआरा ने जीवन का बहुत सा समय निराश पिता और महत्वाकांक्षी भाइयों की सेवा में बिताया। वह बहुत दयालु थी, उसके कोष का बहुत सा भाग जरूरतमंद लोगों की आर्थिक सहायता पर खर्च होता था। औरंगजेब ने उसे "बादशाहे बेगम" का सम्मानजनक खिताब और सत्रह लाख रूपये सालाना वाली जागीर दी। जहाँआरा की बहन रोशनआरा का भी राजनीति में प्रभाव था। अकबर के शासनकाल में सलीमा बेगम, माहम अनग, हमीदाबानो का राजनीति में प्रभाव था।

शाहजहाँ के दरबार के एक अमीर अली मरदान खान की पुत्री साहिबा जी भी कुशल शासक थी। वे काबुल के गवर्नर आजम खॉं की पत्नी थीं। अपने पति की मृत्यु के उपरान्त नया गवर्नर नियुक्त होने तक उन्होंने अफगानो के समान दुर्दान्त और संघर्षप्रिय जाति पर नियन्त्रण करते हुये शासन किया।[1]

भारत की मुस्लिम नारियों में चांदबीबी (१५४७-९९) अद्वितीय स्थान रखती हैं। वे अहमद नगर के हुसैनशाह की पुत्री और बीजापुर के अली आदिल शाह की पत्नी थीं। उनके पति उनकी बुद्धिमत्ता से प्रभावित थे और सभी शासकीय मामलों में उनका परामर्श लेते थे। वे घोड़े पर सवार होकर सैन्य शक्ति का

---

[1] मध्ययुगीन हि०सा० में नारी भावना- पृ०- ३२।

संचालन करती थीं। १५८० में एक हिजड़े द्वारा अली आदिलशाह की हत्या कर दिये जाने पर, इब्राहिम आदिल शाह की संरक्षिका के रूप में शासन की पूरी बागडोर उनके हाथ में आ गई। अहमद नगर और बीजापुर में उसे अनेक बार विश्वासघात और षड्यन्त्रों का सामना करना पड़ा। अहमदनगर में वहां के अमीर मियान मन्झू ने शाहजादा मुराद से सहायता मॉग कर किले पर घेरा डाल दिया। चॉदबीबी की दूरदर्शिता एवं सैन्य संचालन से उन्हें अपना घेरा उठाना पड़ा। मुराद उनकी वीरता एवं साहस से इस प्रकार प्रभावित हुआ कि उसने उन्हें "चॉंदसुल्तान" की पदवी दी और अहमद नगर छोड़ दिया।[1] अपने जीवन के इन उतार-चढ़ावों में वह सदैव जागरूक और प्रयत्नशील रही। अपने ही एक दास के विश्वासघात के कारण मुगल सेना-नायकों से लोहा लेने वाली इस वीर नारी का जीवन असफलता की करूण गाथा मात्र रह गया।[2]

सम्पूर्ण मध्यकाल हिन्दू जाति के लिये पराभव का काल है, तथापि कुछ स्त्रीरत्न उत्तरोत्तर अवनति के इस काल में भी अपने प्रांजल आदर्श, प्रशासनिक क्षमता एवं सैन्य संचालन की योग्यता से क्षणिक चमक पैदा करते हैं। यह आश्चर्यजनक बात है कि हिन्दू स्त्रियाँ ऐसे समय में स्वयं को सफल शासक सिद्ध करती हैं, जब उनका सामान्य सामाजिक स्तर गिर गया था। सुदूर उत्तर से दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक ऐसी स्त्रियों के उदाहरण इतिहास में उपलब्ध हैं जिन्होंने न केवल शासन ही किया, बल्कि युद्ध की उत्कट विभीषिका भी झेली है।

---

1. ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया पृ०-३९२
2. मध्ययुगीन हि० सा० में नारी भावना- पृ०-३१

जीजाबाई (१५९४-१६७४) अहमद नगर के सरदार जाघवराव की पुत्री और पूना एवं सुपा के जागीरदार मालोजी के पुत्र शाहजी की पत्नी थीं। उनके पिता दिल्ली के मुगल शासकों के पक्षधर थे और पति निजाम के दृढ़ समर्थक। जीजाबाई को पिता और पति के बीच कर्त्तव्य का चुनाव करना था और उन्होंने जन्मभूमि के प्रति अपना कर्त्तव्य स्वीकारते हुये पति का पक्ष ग्रहण किया। अन्य अनेक भावनाओं के समक्ष कर्त्तव्य निर्वाह का उनका दृढ़निश्चय साहस, धैर्य और आत्मसम्मान उनके चरित्र के वे महान गुण हैं, जिनका उन्होंने मराठा शक्ति के उन्नायक शिवाजी में पूर्णतया आरोपण किया। शासन के सिद्धान्त भी शिवाजी ने उन्हीं से सीखे थे। शाह जी की अनुपस्थिति में पूना की जागीर का प्रबन्ध उन्हीं के हाथ में था।

हिन्दू जाति मुस्लिमों के द्वारा बलपूर्वक धर्मान्तरित की जा रही थी। एक बार जब किसी हिन्दू का मुस्लिम धर्म में अन्तरण हो जाता था तो उसका पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश असम्भव था, वह सदा के लिये बहिष्कृत हो जाता था, इस अपकारक विचार को गलत सिद्ध करने के लिये उन्होंने इस्लाम धर्म में अन्तरित बाला जी निम्बालकर को पुनः हिन्दू धर्म में प्रवेश देकर उससे अपनी पौत्री सरवूबाई का विवाह किया।[1] यह उनके हिन्दू धर्म के उन्नयन के लिये किये गये प्रयासों का प्रमाण है।

ताराबाई (१६७५-१७६१) हम्बीरराव मोहिते की पुत्री और शिवाजी के पुत्र राजाराम की पत्नी थीं। वे राजाराम से अधिक योग्य मानी जाती हैं। बुद्धिमत्ता

---

[1] ग्रेट विमेन इन महाराष्ट्र पृ०-३८५
कमला बाई देशपाण्डे।

और प्रशासकीय गुणों से सम्पन्न ताराबाई महत्वाकांक्षी स्त्री थी। उनके साहस और वीरता के ही कारण राजाराम की मृत्यु के सात वर्ष उपरान्त तक औरंगजेब दक्षिण के राज्य पर अधिकार न कर सका। उनके सैन्य संचालन एवं प्रबन्धन के उत्तम गुणों के कारण मुगल सेना किले में प्रवेश न कर सकी।

इन्दौर की अहिल्याबाई (१७३५-९५) भी कुशल प्रशासिका थीं। वे अल्पायु में ही विधवा हो गई थी। ससुर मल्हारराव की मृत्यु के पश्चात अपने पुत्र मालेराव की संरक्षिका नियुक्त की गई। मालेराव की मृत्यु के पश्चात् राज्य का सम्पूर्ण प्रबन्ध उनके हाथ में आ गया।[1] उसकी चरित्र विषयक समीक्षा करते हुये कहा जा सकता है कि अपने सीमित क्षेत्र में वह अत्यन्त पवित्र एवं आदर्श शासक थीं।[2]

गोंडवाने के मांडलिक साम्राज्य की स्वामिनी रानी दुर्गावती केवल जननी जन्मभूमि हित आत्मोत्सर्ग करने वाली वीरांगना ही नहीं थी, प्रत्युत शासन और राजनीति में भी निपुण थी। पति की मृत्यु के पश्चात उसने साहस और निपुणता के साथ शासन किया। आसफ खॉ के आक्रमण का वीरता से प्रतिरोध कर उसने मुगल आक्रमणकारियों को हराया।[3] उसके राज्य में ७०००० ग्राम और कस्बे थे। उसका शासन प्रबन्ध सम्राट अकबर से भी अच्छा था।[4]

---

[1] ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र पृ०-३५९

[2] मध्ययुगीन हि० सा० मे नारीभावना- पृ० ३३

[3] मध्ययुगीन हि० सा० मे नारीभावना- पृ० ३२

[4] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया- पृ०-४३

मेवाड़ के राणा सांगा की विधवा रानी कर्णावती का व्यक्तित्व भी देशप्रेम के गौरव से अभिभूत था। उन्होंने उदास सामंत वर्ग में पुनः देश भक्ति की भावना जाग्रत की, और गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह के चित्तौड में आक्रमण का कडा मुकाबला किया।[1] राणा साँगा की दूसरी पत्नी जवाहिर बाई ने भी सेना की प्रधान के रूप में युद्ध करते हुये किले को बचाने के लिये प्राणोत्सर्ग किया। इस प्रसंग में फत्ता की माँ भी स्मरणीय है उन्होंने अपने सोलह वर्षीय पुत्र के साथ युद्धस्थल में जाकर अपूर्व साहस का परिचय दिया।[2]

दक्षिण में केलड़ी पर दो भाइयों भद्रप्पा नायक एवं सोमेश्वर नायक का राज्य था। १६६१ तक दोनों ने साथ-साथ शासन किया। चेनम्मा जी सोमेश्वर की पत्नी थीं। उनमें प्रशासनिक क्षमता थीं, यही कारण है कि उनके पति ने स्वयं के एवं अपने भाई के शासन काल में भी शासन सूत्र उन्हें संभालने की अनुमति दी।[3] १६७७ में पति की मृत्यु के पश्चात उन्होंने २५ वर्षों तक बुद्धिमानी से शासन किया। ''केलड़ी नृप विजय'' और ''शिव तत्व रत्नाकर'' से उनके बारे में वृहद् सूचना मिलती है। उन्होंने शिवा जी के पुत्र राजाराम को शरण देकर अतीव साहस का परिचय दिया था। राजाराम औरंगजेब के सैनिकों द्वारा पीछा किये जाने पर रायगढ़ से भागकर आये थे और जब मुगलों ने उन्हें पकडने के लिये उनके राज्य में घुसने की कोशिश की तो उन्हें हार का सामना करना पडा।

---

1. ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया- पृ०-४३
2. मध्यकालीन भारतीय संस्कृति - पृ०-३९ डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज।
3. ग्रेट हिन्दू विमेन इन साउथ इण्डिया पृ०-३३९

औरंगजेब उनकी वीरता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उन्हें बहुमूल्य उपहार भेजकर उनका सम्मान किया।[1]

रानी उमायम्मा का भी उल्लेख मिलता है जिन्होंने १६७८-८४ ई० तक आटिंगल और त्रावणकोर पर सम्मिलित रूप से शासन किया।[2]

मंगम्मा चंदगिरी के नायक तुपाकुलालिंगम और तिरूवेल्लोर की वेश्या की बेटी थी। मंगम्मा ने मदुरा के चोक्काथनायक से विवाह किया था, और पति एवं पुत्र की मृत्यु के पश्चात अपने पौत्र विजयरंग चोक्काथ नायक की संरक्षिका के रूप में शासन किया।[3]

पूर्व में तिरहुत के राजा शिवसिंह के छोटे भाई पद्मसिंह की मुख्य पत्नी विश्वास देवी अत्यन्त प्रवीण और सुसंस्कृत महिला थी। उन्होंने पति के जीवनकाल मे एक राज्य प्रतिनिधि के रूप में सफलतापूर्वक योगदान दिया।[4]

१६वीं श० के मध्य में राजा सुकलेन मग की पत्नी चाउचिंग असम के इतिहास में पहली महिला राजनीतिज्ञ हैं। उनकी सलाह पर दरबार के तीसरे सदस्य के रूप में "वरपात्र" का पद सृजित किया गया। गहरी खाई के साथ दुर्ग का निर्माण भी उन्हीं की सलाह पर हुआ था।[5]

---

1. ग्रेट हिन्दू विमेन इन साउथ इण्डिया पृ०-३३९
2. ग्रेट हिन्दू विमेन इन साउथ इण्डिया पृ०-३३९
3. ग्रेट हिन्दू विमेन इन साउथ इण्डिया पृ०-३३९
4. ग्रेट हिन्दू विमेन इन ईस्ट इण्डिया पृ०-३६९
5. ग्रेट हिन्दू विमेन इन ईस्ट इण्डिया पृ०-३६९

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मध्ययुग के गहन तिमिराच्छन्न समय में भी स्त्रियाँ पुरुषों की केवल राजनीतिक सलाहकार ही नहीं होती थीं अपितु समय आने पर शासन एवं युद्ध जैसी स्थिति से अधिक योग्यता एवं क्षमता से रूबरू होती थीं। इसका कारण सामान्य बालिकाओं की अपेक्षा उनका विशेष राजनैतिक परिवेश में पालन-पोषण एवं शिक्षा है।

(ख) सामाजिक

आलोच्य युग में स्त्री का सामाजिक जीवन अत्यन्त ही क्लेश, उपेक्षा एवं विषमताओं का पर्याय है। राजनीतिक अस्थिरता एवं पराभव के युग में सबसे त्रासद स्थिति स्त्रीवर्ग की ही होती है। मध्य युग भी इससे अछूता न रहा। अब वह अपहरण एवं क्रय-विक्रय की वस्तु बन गई। रूपवती स्त्रियों की प्राप्ति के लिये युद्ध होते थे और उनकी प्राप्ति हो जाने पर जीवन का विलास पक्ष अपने चरमोत्कर्ष पर होता था। दोनों ही स्थितियॉं नारी को मनुष्य की कोटि में नहीं, वस्तु रूप में प्रस्तुत करती हैं।

मुस्लिम राज्य की स्थापना के फलस्वरूप सामान्य रूप में हिन्दुओं की दशा बहुत शोचनीय हो गई थी।[1] हिन्दुओं की दुर्दशा का अनुमान बरनी के इन शब्दों से हो जाता है, "वे हिन्दू खिराजगुजार कहे जाते हैं, और जब तहसीलदार उनसे चॉदी मॉगता है तो वे बिना उज्र किये बडी नम्रता तथा आदर के साथ सोना भेंट करते हैं। जब कर वसूलने वाला अधिकारी हिन्दुओं के मुँह में थूकना

---

[1] मध्यकालीन भारत- पृ०-२७२ हरिशंकर शर्मा।

चाहे तो उन्हें बिना किसी हिचकिचाहट के अपना मुँह खोल देना चाहिए।[1] हिन्दू प्रजा को मुसलमान शासक की पीड़न नीति से छुटकारा नहीं था, उनके व्यथित जीवन का उपयोग केवल कर चुकाने वाली ईकाइयों के रूप में रह गया था।[2]

हिन्दुओं की दशा इतनी शोचनीय हो गई थी कि उनकी स्त्रियों को मुसलमानों के घर सेवा कार्य के लिये जाना होता था।[3] तुर्क सुल्तानों को हिन्दू सुन्दरियों को अपनी बेगम बनाने का विशेष शौक था। अपनी इस इच्छा की पूर्ति वे उच्च सामन्तों के माध्यम करते थे। ये सामन्त अच्छे घराने की सुन्दर लड़कियों को साम-दाम-दण्ड-भेद की नीति द्वारा फँसाकर, सुल्तानों की सेवा में प्रस्तुत करते थे। सर्वप्रथम हिन्दू लड़कियों को इस्लाम धर्म में परिवर्तित किया जाता था, तत्पश्चात उनसे विवाह कर लिया जाता था।[4] दासियों के रूप मे बिकने को भी वे बाध्य थीं।[5] विदेशियों के युद्धों के ही कारण नहीं, वरन् राज्यों के आन्तरिक युद्धों के कारण भी उनकी दशा शोचनीय थी। संयोगिता-अपहरण केवल इतिहास की एकमात्र घटना नहीं है, कन्या अपहरण उस युग मे छोटी सी बात थी। अतः अराजकतापूर्ण तथा उच्छृंखल राजनीति तथा शासन से स्त्रियों की रक्षा के लिये और उनके जीवन को सुरक्षित बनाने के लिये आवश्यक था कि उसे घर की दीवारों में बन्दी बनाकर रखा जाता, इस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियाँ नारी के जीवन क्षेत्र को संकुचित बनाने मे प्रधान कारण बनीं।[6] मुस्लिम आक्रमण ईसा की ७वीं शती से प्रारम्भ होते हैं, और स्त्रियों की दुर्दशा का अध्याय भी यहीं से

---

1. मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एव संस्कृति - पृ०-४६ दिनेश चन्द्र भारद्वाज
2. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ - पृ०-४३ डॉ० सावित्री सिन्हा।
3. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ०-४३ डॉ० सावित्री सिन्हा।
4. मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एव सस्कृति- पृ०-१५ डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज।
5. मध्यकालीन भारत- पृ०-२७२ हरिशकर शर्मा
6. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ०-४४ डॉ० सावित्री सिन्हा

प्रारम्भ होता है, बलपूर्वक धर्मान्तरण उनके लिये कष्टकारी सिद्ध हुआ। पहले की स्मृतियों में बलात्कृत स्त्री का सामाजिक बहिष्कार नहीं होता था, किन्तु यह उदारवादी दृष्टिकोण मध्यकाल में पूर्णतया समाप्त हो गया यह स्त्रियो की दुर्दशा पर समाज का पटाक्षेप ही है।

सामाजिक सन्दर्भ में स्त्रियों की दशा पर विचार करते समय निम्नांकित बिन्दुओं पर चर्चा करना आवश्यक है।

(अ) परिवार

(ब) विवाह

(स) शिक्षा

(द) पर्दाप्रथा

(य) वेश्यावृत्ति

(र) सती एवं जौहर।

(अ) परिवार

मध्ययुग में सयुक्त परिवार प्रणाली थीं। वे प्रत्येक अवस्था मे पुरुष पर अवलम्बित थीं। सामन्तवादी व्यवस्था में नारी का स्थान दोयम दर्जे का था। उनका एकमात्र कर्त्तव्य पति सेवा था। स्मृतिकारों ने इसमें बहुत योगदान दिया। स्मृतिकारों के वचन समाज में बहुत गहरे पैठकर लोकोक्तियों का स्थान पा चुके थे। जिनमें स्त्रियों का एकमात्र कर्त्तव्य पति सेवा और पति का अनुरंजन था। मनु

ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया पृ०-४४

के अनुसार, "पति का उल्लंघन करने से स्त्री की इस लोक में निन्दा होती है और मरने के बाद वह सियार योनि में उत्पन्न होती है, तथा बुरे-बुरे रोगों से पीड़ित होती है।[1] जो स्त्री पिता भाई आदि लोगो के अभिमान पर पति की आज्ञाकारिणी नही होती उसे राजा बहुत से आदमियों के सामने कुत्ते से नुचवावें।[2] ऐसे भयोत्पादक मत जिस समाज में प्रचलित हों, और जिन अशिक्षित स्त्रियों के लिये इन्हें रचा गया हो, उस वर्ग पर इनका प्रभाव न पड़े, यह तो अत्यन्त आश्चर्य की बात होती, अतः प्रभाव पड़ा और ऐसा पड़ा कि स्त्रियों का कर्त्तव्य पति सेवा ही रह गया। पति की मृत्यु होते ही या तो वे जल कर सती हो जाती थीं और यदि जीवित रहती थीं तो अपना स्वरूप ही बिगाड़ लेती थीं। सिर मुंड़ा कर धर्म चर्चा एवं अनेकानेक व्रत उपवासों में अपने को संलग्न रखती थीं।

पुत्री का जन्म अशुभ माना जाता था। जिस स्त्री के पुत्र ही पुत्र होते थे, उसे भाग्यवान कहा जाता था। पुत्र के उत्पन्न होने पर जितना हर्ष होता था, उतना ही कष्ट पुत्री जन्म पर होता था। राजपूताने के इतिहास में कर्नलटाड का मत है कि, "वह पतन का दिन होता था, जब एक कन्या का जन्म होता था। पुत्र जन्म पर दावतें होती थीं, मंगलगीत गायें जाते थे, परन्तु कन्या के जन्म लेने पर दुःख के से बादल छा जाते थे। मुख्यतया यदि एक स्त्री बार-बार कन्याओं को जन्म देती थी तो उसे पग-पग पर अपमानित होना पड़ता था और कभी-कभी उसे तलाक भी दे दिया जाता था।[3] कुछ वर्ग जैसे राजपूतों में तो

---

[1] मनुस्मृति - ९/३०

[2] मनुस्मृति - ८/३७

[3] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ०-३२ दिनेश चन्द्र भारद्वाज

जन्मते ही लड़की को मार डालते थे। गुजरात में भी यह प्रथा "दूधपीती" के नाम से प्रचलित है।[1]

गृहकार्य की छुद्र सीमा में बॉध दी गई नारी सामाजिक, सास्कृतिक क्षेत्र से तो बहिष्कृत हुई ही परिवार में भी उसका स्थान आदरणीय नहीं रह गया।

(ब) विवाह

कन्या के माता-पिता कन्या का विवाह छः से दस वर्ष की आयु तक कर देने की कोशिश करते थे, क्योंकि शास्त्र वचन इससे बडी आयु की कन्या का विवाह धर्म विरूद्ध कहते है-

अष्ट वर्षा भवेद् गौरी, नव वर्षा तु रोहिणी ।
दश वर्षा भवेद् कन्या, उर्ध्वं रजः स्वला ।।

अतः समाज में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित थी। कुछ विवाह तो गोदी में अथवा गर्भस्थ शिशुओं तक के हो जाते थे। परिणामस्वरूप बाल विधवाओं की संख्या समाज में अत्यधिक होती थी।[2]

शास्त्र वचन के अतिरिक्त मुस्लिमों का आक्रमण भी बाल विवाह का कारण था युद्ध के पश्चात वे स्त्रियो के अपहरण से बिल्कुल नहीं हिचकिचाते थे, इस कारण भी तरूण होने से पूर्व ही उन्हे विवाह बंधन में बॉध दिया जाता था। आक्रमणकारियों के लिये विवाहित और अविवाहित में कोई अधिक अन्तर का

---

[1] सतकाव्य मे नारी, डॉ० कृष्णा गोस्वामी। पृ०-१७१
[2] सत काव्य मे नारी - पृ०-१७१, डॉ० कृष्णा गोस्वामी।

कारण दिखाई नहीं देता तथा इस विषाक्त प्रथा का अकुर पौरुष की चरम और हेय स्वार्थवृत्ति मे ही फूटता हुआ दिखाई देता है। बालविवाह एक दोषपूर्ण प्रणाली थी। अकबर ने इस प्रथा पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये आदेश दिया था कि कोई भी व्यक्ति अपनी लडकी का विवाह बारह वर्ष एवं लड़के का विवाह सोलह वर्ष से कम आयु में न करें।' विवाहों में दहेज का भी प्रचलन था। उच्च जातियों में कन्या पक्ष वाले दहेज देते थे। कुलीन वर्ग के लोग दहेज के लोभ के कारण भी कई विवाह करते थे।' बहुविवाह प्रथा भी चलन में थी। हिन्दू मुसलमान दोनों में ये प्रथायें समान रूप से प्रचलित थीं। बहुविवाह प्रथा ने भी स्त्रियो का पक्ष बिल्कुल हल्का कर दिया, क्योकि जब कोई वस्तु सुलभ हो जाती है, तो उसका मूल्य कम हो जाता है और यही स्त्रियो के सन्दर्भ मे हुआ। प्राय पुरुष सुन्दरी दासी को पत्नी की अपेक्षा अधिक महत्व देते थे। आचार के बधन पुरुष के लिये न के बराबर और स्त्रियो के लिये अत्यन्त कठोर थे। स्त्रियो का पुनर्विवाह हिन्दुओ मे नहीं होता था।

(स) शिक्षा

स्त्रियों की शिक्षा के प्रति लोग जागरूक नहीं थे। उनकी शिक्षा के लिये अलग से कोई प्रबन्ध नहीं था। बालक-बालिकायें साथ-साथ प्राथमिक पाटशालाओं में अध्ययन करते थे। प्राथमिक स्तर के पश्चात बालिकाओं की शिक्षा

' मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ०-४४

' मध्यकालीन भारतीय संस्कृति- पृ०-३५

' मधकालीन भारत- पृ०-४०६, पी०डी० गुप्ता और एम०एल० शर्मा।

की कोई व्यवस्था नहीं थी।[1] जो लोग अपनी कन्याओ को शिक्षित करना चाहते थे, वे घर पर ही उनके लिये शिक्षा का प्रबन्ध करते थे। मध्यवर्ग की विधवा स्त्रियॉ आस-पडोस की बालिकाओं को पुण्य के निमित्त शिक्षित करती थीं। गयासुद्दीन ने सारंगपुर में एक मदर से की स्थापना की थी, जिसमे स्त्रियों को नृत्य गान, सीना-पिरोना, बुनना, आभूषण गढ़ना, धर्मकला तथा सैन्य शिक्षा दी जाती थी।

हिन्दुओं में इस काल में केवल राजपूत और ब्राह्मण स्त्रियों में ही शिक्षा का प्रचार था। नर्तकी वर्ग एवं वेश्याओ में ही शिक्षा एव ललित कलाओ के प्रचार के कारण शिक्षित होना असम्मान की दृष्टि से देखा जाता था।[1] राजपूत परिवारों में स्त्रियों में शिक्षा अनेक स्तरों पर प्रचलित थी। वे केवल साक्षर ही नहीं अपितु शासन, प्रबन्धन एव सैन्य सचालन में भी उतनी ही निपुण होती थीं। इसका कारण उनकी शिक्षा के लिये किये गये समुचित प्रबन्ध एव उनके विवाह की आयु (१६-१७ वर्ष) का सामान्य बालिकाओं की विवाह की आयु से अधिक होना था। स्त्रियों की अशिक्षा का एक कारण पर्दे की प्रथा का प्रचार और सार्वजनिक जीवन में उनकी हीनतर स्थिति भी थीं, तथापि स्त्री शिक्षा के बहुत से उदाहरण हैं। रजिया सुल्तान विदुषी महिला थी, उसने अश्वारोहण, युद्धकला आदि की विशेष शिक्षा ली थी, वह विद्वानों को आश्रय भी देती थी। हुमायूँ की बहन

---

[1] मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एव सस्कृति- पृ० १७४, डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज
मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एव सस्कृति- पृ०-१५९, डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज
[2] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया पृ०-४२
[3] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया- पृ०-४३
[4] मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एव सस्कृति- पृ०-१५९, डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज

अंतःपुर में रहती थीं। सम्मान स्वरूप गुरुजनों के समक्ष अवगुण्ठन से मस्तक ढक लेती थीं।[1] (अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला राजसभा में गुरुजनों के समक्ष घूँघट में जाती है।) किन्तु एक प्रथा के रूप में पर्दे का प्रारम्भ मुसलमानों के शासनकाल में हुआ।[2] कृषक एवं निम्न वर्ग की स्त्रियाँ किसी प्रकार का अवगुण्ठन धारण नहीं करती थीं, अपरिचित के समक्ष वह अपने मुख को धोती के किनारे से ढक लेती थीं।[3] दक्षिण मे राज परिवारों को छोडकर पर्दाप्रथा अप्रचलित थीं। उच्च वर्ग में पर्दे को सम्मान से देखने की प्रवृत्ति बढ़ रही थी। पूर्ण रूपेण वस्त्रों से आवृत्त, पर्दे पड़ी हुई डोलियों में यात्रा करने वाली मुस्लिम स्त्रियॉ हिन्दू अभिजात वर्ग के लिये आदर्श बन जाती थीं।[4] फिरोज शाह ने पर्दा प्रथा को सार्वजनिक रूप से लागू किया था। अकबर ने अपने शासन काल में आज्ञा दी थी कि, यदि कोई तरुणी गलियों और बाजार में बिना पर्दे या घूँघट के दिखाई दे, अथवा जिसने अपनी इच्छा से पर्दे को तोड़ा हो तो उसे वेश्यालय ले जाया जाय और पेशे को अपनाने दिया जाय।[5]

स्त्रियों से पर्दा टूट जाना, उन पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ना था। काबुल के गवर्नर अमीर खॉ ने अपनी बेगम को मात्र इसीलिये छोड़ दिया था कि उससे दुर्घटना वश पर्दा टूट गया था। एक बीमार स्त्री का मुख भी कोई वैद्य या हकीम

---

[1] पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ०-२४४ ए०एस० अल्टेकर।
[2] पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन पृ०-२४४ ए०एस० अल्टेकर
[3] मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना पृ०-३८ डा० उषा पाण्डेय।
[4] मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना पृ०-३८ डॉ० उषा पाण्डेय
[5] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ०-३२ डा० निदेश चन्द्र भारद्वाज।

नहीं देख सकता था। अनुमान तथा किसी विशेष प्रणाली द्वारा उनका इलाज किया जाता था। राजस्थान में पर्दाप्रथा नाम मात्र को थी। राजपूत स्त्रियाँ आवश्यकता पड़ने पर युद्ध के मैदान में भी जाती थीं। मुसलमान बेगमों और शहजादियों में नूरजहाँ और रजिया सुल्तान ने पर्दे का प्रयोग नहीं किया था। हिन्दू नारी ने तो विवशतावश विजेताओं की कामलोलुप दृष्टि से बचने के लिये पर्दे का वरण किया था। किसी एक कारण को इसके लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। बहुत से कारणों ने इसके लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

(य) वेश्यावृत्ति

समाज में नियमों एवं प्रतिबन्धों से रहित स्त्रियों का एक वर्ग ऐसा भी था जिसे गणिका या वेश्या कहते थे। युग की विलास-वासना जन्य प्रवृत्ति के कारण इनकी सख्या बढ़ती गई। मुसलमान बादशाहो की हरम प्रथा से भी इसे प्रोत्साहन मिला। वे धनवानों के लिये संगीत और नृत्य के माध्यम से मनोरंजन का पर्याय थीं। सम्राट अकबर ने वेश्यावृत्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के लिये अनेक प्रयास किये। उन्होने वेश्याओ और नर्त्तकियों को यह आज्ञा दी कि वे या तो किसी पुरुष से विवाह कर लें अथवा साम्राज्य छोडकर चली जायें। उनके लिये उसने "शैतान पुरी" नामक बस्ती बसाकर रहने का निर्देश दिया।

मध्यकालीन भारत- पी०डी० गुप्ता और एम०एल० शर्मा पृ०-४७

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी भावना पृ०-३९
डॉ० उषा पाण्डेय।

(र) सती एवं जौहर

वैदिक काल में पति की मृत्यु के पश्चात प्रतीकात्मक आत्मबलिदान करना पडता था। इस प्रतीकात्मक सहमरण की प्रथा ने कालान्तर में सती प्रथा का रूप ले लिया जिसमें स्त्री अपने मृत पति के साथ वास्तव में जलकर भस्म हो जाती थीं[1] विधवा जीवन की लांक्षना एवं तिरस्कारपूर्ण जीवन ने उन्हें पति के साथ ही जल जाने को विवश किया। मृत्यु के पश्चात पति भक्ति के गौरव से विभूषित होने वाली नारी लौकिक कष्टों के निवारण हेतु इस वीभत्सता एवं भयंकरता का वरण करती थीं। वास्तव में उस समय नारी का मूल्य एक "वस्तु" से अधिक नहीं था, और ऐसी वस्तु को जिसका उपभोक्ता मर गया हो, जल कर क्षार हो जाना ही उचित है। इस प्रकार संसार में साथ देने वाली सदधर्मिणी को पुरुष बलात् स्वर्ग में भी ले जाकर वहाँ उससे अपनी सेवा स्वीकार कराता था।

जौहर की प्रथा का प्रचलन राजपूत वर्ग की स्त्रियों में था। शत्रु द्वारा आक्रमण किये जाने पर जीत की आशा न रहने पर राजपूत स्त्रियाँ जौहर द्वारा प्राणोत्सर्ग करती थीं। इस प्रथा पर राजपूत गर्व करते थे, इससे उनकी स्त्रियॉं शत्रु के हाथ में पड़ने से बच जाती थीं।

सामाजिक सन्दर्भ में स्त्रियो की दशा पर उपर्युक्त बिन्दुओं के माध्यम से विचार करते हुये कतिपय कारणों को उसकी सामाजिक दुर्दशा के लिये उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। सामन्तीय प्रभाव में संवर्धित विलासिता की

---

[1] भारत का इतिहास- रोमिला थापर - पृ०-३१

[2] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ- पृ०-४५, डॉ० सावित्री सिन्हा

प्रवृत्ति, अशिक्षा, पर्दे का प्रसार एवं स्वयं स्त्रियों द्वारा भी स्वयं को पुरुषों की अपेक्षाहीन समझने की प्रवृत्ति उसकी इस दशा का कारण थी।

(ग) आर्थिक

ऐश्वर्य एवं वैभव की चकाचौंध से दीप्त मध्ययुग में नारी की आर्थिक दशा बहुत अच्छी नहीं थीं। शिक्षा से रहित, घर की चहारदीवारी में कैद नारी के व्यक्तित्व विकास के लिये विशेष अवसर नहीं थे। समाज में धन के बंटवारे में घोर विषमता भी एवं समाज उच्च, मध्य और निम्न वर्ग में विभाजित था। निम्न वर्ग की स्त्रियाँ पति के साथ खेत में परिश्रम करतीं थीं एवं अन्य सहायक धन्धे भी करती थीं। वे आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बिनी कही जा सकती थीं।[1] इस वर्ग की स्त्रियॉ ताम्बूलवाहिनी चँवरवाहिनी, पुषवाहिनी आदि के रूप में बादशाहो के हरम में नौकरियाँ पाती थीं। राजमहलों के विलासपूर्ण वातावरण में उन्हें अपने चरित्र की रक्षा कर पाना मुश्किल तो अवश्य होता होगा।[2] हिन्दू अमीर भी कुछ दासियाँ आमोद-प्रमोद के लिये रखते थे। दक्षिण के मन्दिरों में, देवदासी प्रथा का प्रचलन था। ये देवदासियाँ मन्दिरों में नाचने-गाने के लिये रखी जाती थीं।[3] उच्च वर्ग की स्त्रियों के लिये जीविकोपार्जन का कोई साधन नहीं था, उसे इसकी आवश्यकता भी नहीं थीं, किन्तु दुर्भाग्य में पड़ी हुई उच्च वर्ग की स्त्री चरखा कताई एवं बुनाई से जीविकोपार्जन करती थी।[4] व्यवसाय के रूप में संगीत केवल

---

[1] मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी भावना- पृ०-३५, डॉ० उषा पाण्डेय।

[2] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया-पृ०-४२

[3] मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं सस्कृति, पृ०-४१ डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज।

[4] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया- पृ०-४२

वेश्यायें ही सीख सकती थीं। वेश्यावृत्ति एक घृणित व्यवसाय था और वेश्यायें अधिकतर शहर से दूर रहा करती थीं।[1] स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप से कोई व्यवसाय नहीं करती थीं। तत्कालीन संयुक्त परिवार प्रणाली में स्त्री को किसी प्रकार के व्यवसाय करने की आवश्यकता भी नहीं थीं। १७वीं एवं १८वीं शती में स्त्रियों द्वारा चिकित्सा को व्यवसाय के रूप में अपनाने का उल्लेख मिलता है। १८वीं शती में एक स्त्री चिकित्सक द्वारा स्त्रियों की बीमारियों के संबंध में लिखा गया विवेचनात्क निबन्ध अरबी में अनुवादित किया गया। लेकिन स्त्री चिकित्सकों की संख्या अत्यन्त कम थी और यह व्यवसाय कुछ चिकित्सकों के परिवार में विधवाओं द्वारा अपनाया जाता था।[2] विधवा स्त्रियाँ नर्स एवं दाई का कार्य भी करती थीं। निर्धन स्त्रियाँ पान की दुकान पर बैठने को मजबूर थीं।[3] सम्राट अकबर द्वारा शाही शराबखाने की देखरेख के लिये एक द्वारपाल की पत्नी की नियुक्ति का उल्लेख भी मिलता है।[4] इस घटना से उनके विश्वस्त होने का प्रमाण मिलता है।

हिन्दू स्त्रियों की तुलना में मुस्लिम स्त्रियाँ की आर्थिक स्थिति अधिक अच्छी होती थी, क्योंकि इस्लामी कानून के अनुसार वे पिता की सम्पत्ति में भाईयों के समान ही अधिकारिणी थी। विवाह के पश्चात भी सम्पत्ति में उनका अधिकार होता था। तलाक की स्थिति में भी वे मेहर के रूप में सम्पत्ति प्राप्त

---

[1] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पृ०-३८, डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज।

[2] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया- पृ०-४२

[3] मध्यकालीन भारतीय संस्कृत- पृ०-३८
डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज

[4] मध्यकालीन भारतीय संस्कृत- पृ०-३८, डॉ० दिनेश चन्द्र भारद्वाज।

करती थीं। इसके विपरीत हिन्दू स्त्री न तो विवाह के पूर्व और न विवाह के पश्चात ही पिता की सम्पत्ति में अपना भाग ले पाती थी।

वस्तुतः इस युग में नारी की कोई सुदृढ़ आर्थिक स्थिति नहीं थी। परिचारिका के रूप में ही केवल वे आर्थिक उपार्जन कर सकती थीं। पुरुष से असम्पृक्त नारी का कोई आर्थिक जीवन नहीं था।

(घ) धार्मिक

उपनयन संस्कार की औपचारिकता समाप्त होते ही स्त्रियों का धार्मिक स्तर, ब्राह्मण स्त्रियों का भी शूद्रवत् हो गया। इसने उनकी सामाजिक और धार्मिक स्थिति पर बड़ा दूरगामी प्रभाव डाला। वैदिक बलि के लिये तो वे बहुत पहले अयोग्य घोषित कर दी गई थीं। परवर्ती काल में प्रचलित अनेकानेक व्रत उपवासों में उन्होंने अपने को संलग्न कर लिया। अल्टेकर के मत से तो वे इन पौराणिक व्रतों और उपवासों की एक मात्र संरक्षिका थीं।[1] अधिकतर स्त्रियाँ अशिक्षित थी। वे वेदान्त के दार्शनिक मतों और बौद्धिक तर्कों को समझने में असमर्थ थीं। भक्तिमार्ग सर्व सुलभ एवं लोकप्रिय हो रहा था, अनेकानेक विस्मयकारी धार्मिक कथायें समाज में प्रचलित होने लगीं। उच्च बौद्धिक प्रशिक्षण के अभाव में स्त्रियाँ सहज विश्वासी या अंधविश्वासी होने लगीं, जो उनके विवेक के विकास के लिये हानिकर सिद्ध हुआ।[2]

---

[1] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इण्डियन विमेन इन सोशल लाईफ- पृ० -४० ए०एस० अल्टेकर।

[2] आइडियल एण्ड पोजीशन ऑफ इण्डियन विमेन इन सोशल लाईफ- पृ०-४० ए०एस० अल्टेकर।

समाज इस काल मे अनेक झझावातों से जूझ रहा था। अनेक विकट समस्यायें सामने थीं। राजनैतिक पराभव एवं सामाजिक पतन के इस युग में अनेक धार्मिक आन्दोलन भी हुये। भक्ति आन्दोलन की कई शाखाये प्रशाखायें विकसित हुई, जिनके सिद्धान्तों को समझने में विद्या-विवेक शून्य सामान्य स्त्री स्वयं को असमर्थ पाती थी। लेकिन भक्ति ज्ञान, विज्ञान, आचरण सिद्धान्त से आगे की चीज है, जिसे विरले ही प्राप्त कर पाते है, यही भक्ति इस युग में स्त्रियों की आराधना का दृढ अवलम्ब बनी। इसी का सहारा लेकर अनेक भक्त एवं संत कवयित्रियों ने जीवन और जगत के सत्य से साक्षात्कार किया। उत्तर से दक्षिण एव पूर्व से पश्चिम तक अनेकानेक भक्त-संत कवयित्रियों की स्वस्थ दीर्घकालिक परम्परा रही है। इनके द्वारा विपुल मात्रा में साहित्य सृजन हुआ। सदियों से दबे हुये व्यक्तिव में कवित्व का अंकुर फूट पड़ा। कविता की इस मधुमती वेगवान धारा में जन-जीवन रसाप्लावित हो बह उठा। घर-द्वार एवं संसार का त्याग करके पूर्ण समर्पण एवं विराग की भावना से साधना पथ पर चलती हुई भक्त-संत कवयित्रियाँ जीवन के परमतत्व को प्राप्त करती है, जिसका प्रमाण स्वयं उनकी कविताओं में निहित है। इनकी साधना किसी न किसी गुरू के संरक्षण मे चली है, वे इनकी आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते थे। चरणदास की शिष्यायें दयाबाई, सहजोबाई कबीर की शिष्या लोई, सत रामदास की शिष्या अक्काबाई, बयाबाई, बहिणाबाई, नामदेव की शिष्या जनाबाई इस संदर्भ में उल्लेखनीय नाम हैं। संत दादू की भी अनेक स्त्री शिष्याये थीं। बावरी साहिबा तो इतनी उच्चकोटि की संत थीं कि उनके नाम से बावरी पंथ ही चल गया। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल के मत से पुरुष संतो द्वारा स्त्रियो को शिष्यत्व प्रदान करने के कारण स्त्रियों को उनका ऋणी होना चाहिये कि उन्होंने उनके

लिये भी भक्ति का मार्ग खोल दिया है।[1] संत स्त्री को बंधन स्वरूप मानते हैं। यह बंधन घर, परिवार एवं सांसारिक भोगों का है, जिसका प्रमुख कारण स्त्री मानी गई है। भौतिकता एवं आध्यात्मिकता में संघर्ष का कारण स्त्री का आकर्षण ही है। (यद्यपि इस विषय पर तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय में विशद चर्चा की गई है, तथापि विषय निर्वहन के लिये कुछ चर्चा प्रासंगिक है) अतः उनकी भर्त्सना और उपेक्षा के बिना पुरुष की उच्छृंखल प्रवृत्ति को बाँध सकना असम्भव था।[2] नारी का जो बाधक चित्र उन्होंने खींचा उसमें उसके कामिनी रूप की ही प्रधानता थी। यह सत्य है कि उस युग में नारी का वही रूप शेष रह गया था। अभी तक वह एक अनिवार्य विकार, युद्ध की प्रेरणा और महत्वाकांक्षा की सामग्री प्रदान करने वाली थी, पर संत कवियों ने उसका पूर्ण रूप से विरोध और खंडन आरम्भ कर दिया।[3] आश्चर्य का विषय है कि संतों ने नारी को सभी संभव कुशब्दो से नवाजा है किन्तु स्वयं उस अनित्य, अविनाशी ब्रह्म को पाने के लिये नारी विषयक अभिधान स्वीकार किया है। नारी के प्रति इन कवियों की यह दृष्टि उस अन्तर्दृष्टि की पारिचायक है जिसमें नारी की झांई पडने से सर्प के भी अन्धे होने की संभावना है, तो फिर पुरुष की क्या स्थिति हो सकती है। घृणा और भर्त्सना के गहनतम में घिरी होने पर भी अनेक नारियों द्वारा उत्कृष्ट साहित्य रचा जाना उनकी भर्त्सना का समुचित उत्तर है। उनकी उस साधना मार्ग में उपस्थिति ही (जिस मार्ग में वे सर्वाधिक घृणा एवं निन्दा की पात्र हैं) एक गौरवमयी उपलब्धि है। काव्य की इस धारा में स्त्रियों की वाणी तथा ज्ञानात्मक विवेचनायें मानों अपने

---

1. संत काव्य मे नारी से उद्धृत, पृ०-१६३
   डॉ० कृष्ण गोरवामी।
2. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियॉं, पृ०-४५
   डॉ० सावित्री सिन्हा।
3. मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियॉं, पृ०- ४६

गुरुओं का ध्यान इस ओर आकर्षित करती प्रतीत होती हैं कि नारी में केवल आकर्षण ही नहीं हैं।[1] उसमें वह शक्ति भी है जिसके बल पर वह आध्यात्मिकता की ऊँचाइयों को छू सकती है ।

मध्यकाल में नारी की स्थिति का आकलन करते समय इस तथ्य को अनदेखा नहीं किया जा सकता है कि उसे भक्ति एवं ज्ञान प्राप्ति की पूर्ण स्वतंत्रता थी, वे (पुरुष) गुरुओं के संसर्ग में दिव्य आध्यात्मिक अनुभवो को प्राप्त करती थीं। जिनमें कवित्व का गुण था उन्होने साहित्य में उत्कृष्ट कोटि का योगदान दिया।

डॉ० सावित्री सिन्हा।

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ, पृ०- ४६
डॉ० सावित्री सिन्हा

तृतीय अध्याय

सन्त काव्य परम्परा और उसमें नारी के प्रति दृष्टिकोण

मध्यकालीन नारी भावना के संदर्भ में संत कवयित्रियों पर विचार करते समय संतकवियों, संतकाव्य परम्परा और उस परम्परा में नारी के प्रति दृष्टिकोण पर दृष्टिपात् करना आवश्यक है, क्योंकि जिन संत कवयित्रियों पर उक्त शोध प्रबंध में विचार किया जाना है, उनकी परम्परा को जाने बिना उक्त शोध विषय के साथ न्याय नहीं किया जा सकता है, अतः इस अध्याय में निम्नांकित बिन्दुओं पर विचार किया जाना अभीष्ट है।

(क) संतकाव्य परम्परा

(ख) संत काव्य परम्परा में नारी के प्रति दृष्टिकोण

(ग) संतों की नारी निन्दा के कारण

संत काव्य परम्परा

(अ) संत शब्द अर्थ और व्युत्पत्ति

किसी शब्द की व्युत्पत्ति जानने का उद्देश्य उस शब्द के सही अर्थ को जानना है। कभी-कभी कोई शब्द अपने में विशाल अर्थ भण्डार को संजोये रहता है, ऐसी स्थिति में समस्या और विकट हो जाती है, क्योंकि एक ही शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ (भिन्न अर्थों के सन्दर्भ में) सामने आती हैं। इन अनेक व्युत्पत्तियों में अनुमान एवं दृष्टि-भेद से सही व्युत्पत्ति तक पहुँचने की चेष्टा की जाती है।

विभिन्न विद्वानों ने संत शब्द को अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित करने का प्रयास किया है। डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल इसकी व्युत्पत्ति सत् शब्द से मानते हैं।[1] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी संत शब्द की व्युत्पत्ति सन् शब्द से मानते है। उनके अनुसार संत शब्द हिन्दी भाषा के अन्तर्गत एकवचन में प्रयुक्त होता है किन्तु यह मूलतः संस्कृत शब्द "सन्" का बहुवचन है। सन् शब्द अस् (होना) धातु से बने हुये, सत् का पुल्लिंग रूप है, जो शतृ प्रत्यय लगाकर प्रस्तुत किया जाता है।[2] डा० राजदेव सिंह अंग्रेजी के सेण्ट (Saint) शब्द से इसकी व्युत्पत्ति मानते है,[3] जो शायद ध्वनिसाम्य के आधार पर है। इसी तरह शान्त शब्द से भी इसकी व्युत्पत्ति दिखाने का प्रयास किया गया है।

संत शब्द का सही अर्थ क्या है, इस संबंध में हमारे प्राचीन ग्रन्थ क्या कहते हैं, यह विश्लेषण का विषय है। ऋग्वेद में "सुपर्णः विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" कहकर सन्त को सत् का पर्याय माना गया है।[4] छादोग्य उपनिषद् में "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवा–द्वितीयम्" कहकर यह प्रतिपादित करने की चेष्टा की गई है कि आरम्भ में केवल एक अद्वितीय सत् ही विद्यमान था।[5] तैत्तिरीय उपनिषद् में "असदेव सः भवति असद् ब्रह्मेति चेत् वेद। अस्ति ब्रह्मेति चेत् वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।" कहकर ब्रह्म को जानने वाले को संत कहा है।[6] महाभारत में "आचार लक्षणो धर्मः, सन्तश्चाचार लक्षणाः" कहकर

---

[1] योगप्रवाह पृ०-१५८
[2] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ०-४
[3] संत साहित्य की भूमिका पृ०-२०
[4] ऋग्वेद १०/११४/५
[5] छांदोग्य उपनिषद्, द्वितीय खण्ड–१
[6] २/६/१

सदाचारी के अर्थ में इसका प्रयोग हुआ है।[1] धम्मपद में इस शब्द का प्रयोग शान्त के अर्थ में किया गया है–

"सन्तं तस्समनं होति, सन्ता वाचा च कम्म च[2]" और

"अधिगच्छे पदे सन्तं संरवारूपसमं सुखं[3]"

भागवत महापुराण में "प्रायेण तीर्थाभिगमापदेशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः" कहकर उन्हें तीर्थों को भी पवित्र करने वाला कहा गया है।[4] भतृहरि "परोपकाराय सतां विभूतयः" और "सन्तः स्वयं परहिताभियोगाः" कहकर परोकारी के अर्थ में इसकी संगति खोजते है।[5] भक्ति कालीन साहित्य में भी यह शब्द उपर्युक्त सभी गुणों को आत्मसात किये हुये अपनी विराट अर्थवत्ता से अनेकानेक अर्थों के संदर्भ में निरूपित किया जाला है। कबीर के मत से निर्वैरी, निष्कामी, सांई से प्रेम करने वाला और विषयों से न्यारा रहने वाला संत है।[6] सारा संसार, गृहस्थ, वैरागी, योगी, जंगम, तपस्वी, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, अवधूत, राजा, रंक, सभी दुखी है, क्योंकि आशा, तृष्णा ने सभी को जकड़ लिया है, केवल संत सुखी है, जिसने मन को जीत लिया है।[7] यह शरीर केले का बन है, मन मदमत्त हाथी है ऐसे मदमत्त हाथी पर ज्ञान का अंकुश लेकर बैठा हुआ महावत संत है।[8] गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मान में संत शब्द की अनेक प्रसंगों में व्याख्या

---

1. महाभारत
2. धम्मपद, अर्हन्तवग्ग गाथा ७
3. धम्पपद, भिक्खुवग्ग ९
4. भागवत–१/१९/८
5. नीतिशतक
6. निरबैरी निहकांमता साई सेती नेह।
   विषिया सूँ न्यारा रहै संतानि को अगएह।। कबीरं ग्रन्थावली पृ०-१५६, सा० २४
7. कवीर ग्रन्थावली पृ०-५२-२३ पद ९०
8. काया कजरी बन अहै, मन कुंजर मदमत्त। वही-पृ० २२८ साखी-२
   अकुस ज्ञान रतन है, रवेवर विरला संत।

की है। उनके मत से संत कोमल चित्त वाले हाते है।[1] वे भ्रमर की तरह गुणग्राही[2] हंस के समान नीर क्षीर विवेकी[3] जल के समान निर्मल मन वाले[4] और बुरा करने वाले का भी भला करने वाले हैं।[5] दूसरों के लिये भूर्जतरू (भोजपत्र) के समान अपनी खाल तक उधड़वा देते है।[6] उनका ह्रदय नवनीत के समान कोमल और द्रवणशील होता है। नवनीत तो स्वयं के ताप से द्रवित होता है, किन्तु संत पर हित में द्रवित हो जाते हैं।[7] वृक्ष, सरिता, पर्वत, और पृथ्वी के समान ही संत भी परमार्थ के ही लिये जीवित रहते हैं।[8] स्पष्ट है कि अपनी दीर्घकालिक परम्परा में यह शब्द अनेकानेक अर्थ संदर्भों को स्वयं में संगोपित किये हुये मुख्यतः उदात्त गुणों के संदर्भ में प्रयुक्त किया जाता रहा है, किन्तु यही संत शब्द हिन्दी आलोचना मे अपनी पूर्ववर्ती उदात्त अर्थ परम्परा से हटकर सम्प्रदाय विशेष (निर्गुण) के लिये प्रयुक्त होने लगा।

निर्गुण मतावलम्बियों को संत कहने की परिपाटी गोस्वामी तुलसीदास के समय से ही हो गई थी। इसका प्रमाण स्वयं तुलसीदास ने रामचरित मानस में अनेक स्थानों पर दिया है। उत्तरकाण्ड के "कलिमहिमा" वर्णन प्रसंग में तुलसी ने बताया है कि "ये संत तेली, कुम्हार, चाण्डाल, भील, कोल, कलवार आदि अधम वर्णों में उत्पन्न होने वाले लोग थे।[9] वेद और पुराणों की प्रामाणिकता में विश्वास

---

1. रामचरित मानस, अरण्यकाण्ड दोहा-२ चौ० ५
2. रामचरित मानस, बालकाण्ड दोहा १०
3. रामचरित मानस, बालकाण्ड दोहा-६
4. रामचरित मानस -अरण्य- दोहा ३९ चौपाई ४
5. रामचरित मानस, सुन्दरकाण्ड दोहा ४१- चौपाई ४
6. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड दोहा १२१-चौपाई ८
7. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड १२५/४
8. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड १२५/३
9. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड १००/३

नहीं करते थें,[1] व्यास गद्दी पर बैठकर धर्मोपदेश देते थे,[2] ब्राह्मणों से विवाद करते थे कि हम तुमसे किसी मायने में कम नहीं है, उन पर अपने ज्ञान का प्रदर्शन करते थे,[3] जनेऊ पहन् कर दान लेते थे,[4] शिव के प्रति इनमें आस्था थी और पौराणिक देवताओं तथा विष्णु के प्रति अश्रद्धा का भाव था।[5] श्रुतिसम्मत हरि भक्ति पथ को छोड़कर अनेक पंथो की कल्पना करते हैं।[6] ऐसे इन मिथ्याभाषी दंभी लोगों को सब लोग संत कहते हैं।[7]

अतः अपनी समस्त उदात्त अर्थवत्ता को समेटे हुये भी हिन्दी आलोचना से पूर्व ही संत शब्द निर्गुण मार्गियों के लिये प्रयुक्त होने लगा था।

इतना बड़ा अर्थान्तर अकारण नहीं हो सकता है। संत कवियों और उनके साहित्य पर प्रभूत शोधकार्यों के बावजूद इस अर्थान्तर को लक्ष्य नहीं किया जा सका है। आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि इन शोधकार्यों ने इस अर्थान्तर को घटाने की जगह बढ़ाया ही है। शुरू-शुरू में कबीर आदि को संत कहने में लोग हिचकते थें। आचार्य शुक्ल और डा० बड़थ्वाल ने इसी लिये संत के साथ निर्गुण विशेषण का प्रयोग निरन्तर किया है।[8] सम्पूर्ण मध्यकालीन साहित्य में सन्त और भक्त शब्द पर्यायवाची की तरह प्रयुक्त हुये हैं। बीसवीं शती में प्रथम दो-एक

---

1. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड १०१/४
2. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड १००/५
3. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड ९९/--
4. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड ९९/१
5. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड १०५/–
6. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड दो० ९९ख व ९७क
7. रामचरित मानस, उत्तरकाण्ड ९८/२
8. सत साहित्य की भूमिका – डा० राजदेव सिंह पृं०–२

दशकों तक संत और भक्त शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं।[1] फिर निर्गुणोपासक संत कहे जाये और सगुणोपासक भक्त, यह नया अर्थ कहाँ से आ गया है? नाथादास ने भक्तमाल में कबीर एवं तुलसी दोनों को भक्त कहा है। तुलसी ने संतो का जो मानक तैयार किया है उससे भी इस अर्थ की संगति नहीं बैठती। आ० हजारी प्रासाद द्विवेदी के मत से, संत और भक्त में अन्तर करने का क्रम उस समय बड़ी तेजी से शुरू हुआ था, जब कुछ यूरोपियन पंडितों ने मध्यकालीन भारतीय भक्ति-आन्दोलन को ईसाइयत की देन सिद्ध करना चाहा था।[2] निर्गुणमार्गी कवियों के अनुसंधान परक अध्ययनों से यह स्पष्ट हो गया है कि सगुणमार्गी भक्तों से निर्गुणमार्गी संतों के आचार-विचार भिन्न हैं, तथा निर्गुणमार्गी संतो से ईसाई संतों में पर्याप्त समानतायें हैं।

इस प्रकार इस शब्द का अर्थसंकोच एवं अर्थापकर्ष दोनों हुआ है। अब यह विशेषण से संज्ञा बन गया है,[3] और अपनी उदात्त अर्थ परम्परा से विच्छिन्न होकर ऐसे "निरगुनियों" के लिये रूढ़ हो गया है, जो निम्न कुल में उत्पन्न हुये हो, ब्राह्मण, वेद और सगुण ब्रह्म में आस्था नहीं रखते, जाति पाँति, कर्मकाण्ड में विश्वास नहीं रखते है और स्वयं के आचार विचार, क्रिया–कलाप में आत्ममुग्ध से रहते हैं। मध्यकाल में संत शब्द का प्रचलित अर्थ हिन्दी आलोचना में पारिभाषिक अर्थ बन गया है।

---

[1] संत साहित्य की भूमिका – डा० राजदेव सिंह पृ० १७

[2] सूरसाहित्य से

[3] संतसाहित्य की भूमिका डा० राजदेव सिंह पृ० २

(ब) संत परम्परा

मध्यकाल की निर्गुणमार्गी संत साधना पद्धति का आरम्भ कहॉ से होता है यह भी विश्लेषण का विषय हैं। यह कोई ज्यामितीय समस्या नहीं है कि एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक रेखा खींचकर समाधान पर पहुँचा जा सके। यह साहित्य की कभी द्रुतगामी और कभी मन्थर गति से प्रवाहित होने वाली दीर्घकालिक परम्परा हैं, जिसके सूत्र शंकराचार्य एव गोरखनाथ की भाव भूमि से जुड़े है।

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी संत परम्परा का आरम्भ, जयदेव से मानते है,[1] और कबीर के पूर्वकालीन सन्तों में जयदेव, नामदेव, सदन कसाई, वेणी, त्रिलोचन और लालदेद का उल्लेख करते है।[2]

जयदेव से संत परम्परा का उद्‌गम मानने की स्थिति में हमें कुछ बिन्दुओं पर विचार करना पड़ेगा। सबसे पहले तो कबीर और जयदेव की साधनापद्धति में ही बड़ा अन्तर है। एक जाति-पाँति के नियमों को न मानने वाला वर्णाश्रम धर्म विरोधी और दूसरा इनका परमआग्रही। दूसरा, कबीर की वैष्णव अवतारों के प्रति पूर्ण अनास्था है। (दशरथ सुत तिहुँलोक बखाना, राम नाम को मरम है आना) जबकि जयदेव परम वैष्णव हैं तीसरा, कबीर एकान्तिक साधक होते हुये भी सामाजिक सरोकारों से रहित नहीं है, वे समाज की कुरीतियों, पाखण्डों, अन्धविश्वासों पर चोट पहुँचाकर समाज को सन्मार्ग पर लाने के इच्छुक है, वहीं

---

[1] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ०-११

[2] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ०-११

जयदेव पूर्णतया प्रेमलक्षणा भक्ति में डूबे है, संसार की उन्हें उतनी चिन्ता नहीं है। अतः जयदेव हिन्दी आलोचना में स्वीकृत संत शब्द की परिधि में नहीं आते और उनसे संत परम्परा का उद्गम माना भी नहीं जा सकता है। कबीर ने अपनी बानियों में जयदेव का स्मरण बड़ी श्रद्धा के साथ किया हैं किन्तु श्रद्धा और परम्परा दो भिन्न चीजे हैं।

वारकरी सन्त नामदेव एवं त्रिलोचन से भी सन्त परम्परा के उद्गम की बात की जाती है। वारकरी सन्त कबीर आदि उत्तर भारतीय संतों के अधिक निकट है, तथापि दोनों की साधना पद्धति में बहुत अन्तर है। मराठी सन्तों ने ब्रह्म के सगुण एवं निर्गुण दोनों रूपों को स्वीकार किया है, और दोनों की उपासना समान भावभूमि पर की है। हिन्दी की तरह संत और भक्त शब्द मराठी में भिन्नार्थक नहीं है, वरन् वहाँ ये पर्यायवाची की तरह प्रयुक्त होते है। वारकरी संतों में शिव के प्रति आस्था का भाव है, किन्तु वे विष्णु के प्रति भी उतने ही आस्तिक हैं। पण्ढरपुर में स्थापित विट्ठल के सिर के ऊपर शिव की मूर्ति इसका प्रमाण है, जबकि कबीर आदि संत पूर्णतया निर्गुणोपासक है, वैष्णवों, वेद, ब्राह्मणों के प्रति असहिष्णु है, अतः ये उत्तर भारतीय संत नामदेव एवं त्रिलोचन की परम्परा में बिल्कुल नहीं आते।

संत सधना कसाई जाति में उत्पन्न थे, और मांस विक्रय का कार्य करते थे। रैदास ने नामदेव, कबीर और त्रिलोचन के साथ संत सधना का उल्लेख किया है। (नामदेव कबीर त्रिलोचन, सधना सैणु तरै।) गोस्वामी तुलसीदास एवं अन्य सगुणमार्गी कवियों ने भी इनका उल्लेख किया हैं। ये काफी लोक विश्रुत

रहे होगें क्योंकि लोकगीतों मे भी भगवान की कृपा से इनके तर जाने की चर्चा मिलती है– "तारा सदन कसाई, अजामिल की गति बनाई।"

डा० ग्रियर्सन ने संत संधना के नाम पर प्रचलित "सधना पंथ" का उल्लेख किया है और उनके अनुयायियों का बनारस में वर्तमान होना बताया गया है। इनका एक पद गुरु अर्जुनदेव द्वारा संपादित सिक्खों के आदिग्रन्थ में आया है। इनके छः पदों का एक संग्रह संतगाथा में भी संकलित है,[1] लेकिन हम उनसे संत परम्परा का उद्‌गम एवं कबीर पर उनके प्रभाव को लक्ष्य नहीं करते। वे तो एक वैष्णव भक्त के रूप मे अधिक प्रसिद्ध दिखाई देते है, जिनका भगवान की कृपा से उद्धार हो गया।

संत वेणी के समय एवं जीवन की घटनाओं के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। सिक्खों के पाँचवे गुरु अर्जुनदेव ने अपने एक पद मे इनका नाम लिया है। आदि ग्रंन्थ में इनके तीन पदों का संग्रह भी है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी के मतानुसार ये कबीर के पूर्ववर्ती है और नामदेव के समकालीन है, इनके पदों पर नाथयोगी सम्प्रदाय व संत मत की गहरी छाप है। संतमत के प्रथम प्रवर्तको में इनका नाम आदर के साथ लिया जा सकता है।[2]

कश्मीर की संत लालदेद से अवश्य हम इस परम्परा का उद्‌गम मान सकते हैं। हिन्दी आलोचना में स्वीकृत संत शब्द की परिधि में हम जिस विशेष साधना पद्धति एवं आचार विचार का उल्लेख करते हैं, लालदेद की ब्रह्मविषयक धारणा–जीवविषयक धारणा कबीर आदि संतों की धारणा के अनुकूल है, बल्कि

---

[1] उत्तरी भारत की संत परम्परा आ० परशुराम चतुर्वेदी पृ०-१००

[2] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ०-१०४

यहाँ यह कहना कि उनसे भी समीचीन एवं गूढ़ है, अधिक उपयुक्त होगा। वे जागतिक प्रपञ्च से रहित एकान्तिक साधिका है, तथापि संसार को वास्तविक सत्य से परिचित कराती है। कबीर की भाँति मूर्तिपूजा एवं तीर्थाटन का खण्डन भी करती हैं। आत्मतत्व एवं ब्रह्मतत्व का विशद विवेचन करके आत्मतत्व के ब्रह्मतत्व में लयमान होने की स्थिति की चर्चा वे मनुष्य के शरीर में ही करती है।

लालदेद १४वीं श० के अन्त में विद्यमान कही जाती है, कबीर १५वीं शताब्दी में हुये। ग्रियर्सन के मतानुसार लालदेद की अनेक बातों से कबीर भी प्रभावित हुये थे। अतः वे कबीर की पूर्ववर्ती ठहरती हैं। उनकी साधना पद्धति संतजनानुमोदित साधना पद्धति के अनुकूल है, अतः हम संत परम्परा का प्रारम्भ लालदेद से मान सकते हैं।

इस परम्परा में आने वाले प्रमुख संत इस प्रकार है। कबीर (सं० १४५६-१५७५), रैदास (?), गुरुनानक देव (सं० १५२६-१५९५), सेगनाई (?), पीपाजी (जन्म सं० १४६५ से १४७५ के बीच), धन्नाभगत, (?) संतदादूदयाल (सं० १६०१-१६६०), रज्जबजी (सं० १६२४-१७४६) मलूकदास (सं० १६३१-१७३९), सुन्दरदास (१६५३-१७४६), प्राणनाथ (सं० १६७३-१७५१), गरीबदास (१६३२-१६९३), धरनीदास (जन्म सं० १७१५ मृत्यु अज्ञात), यारीसाहब (सं० १७२५ - १७८०), केशवदास (सं० १७५० - १८२५), बुल्लासाहब (सं० १६८९-१७६६), जगजीवन साहब (सं० १७३९-१८१८), दरियासाहब, बिहार वाले (सं० १६९१-१८३७), दरियासाहब, मारवाड़ वाले (सं० ७३३-१८१५), गुलालसाहब (सं० १७५०-१८००), भीखासाहब (सं० १७७०-१८२०), चरनदास (सं० १७६० - १८३९), पानपदास (सं० १७७६ - १८५०), रामचरन दास

(सं० १७७६ - १८५५), सहजोबाई (सं० १७४० - १८२०), दयाबाई (सं० १७४९-१८५०), बावरी साहिबा (सं० १५९९-१६६२), तुलसी साहिब (सं० १८१७-१८९९), संत वाजिद (१७वीं शताब्दी), संत अरवा (सं० १६३०-१७१५), संत प्रीतमदास (सं० १७८०-१८५४), संतसिंगाजी (सं० १५७६-१६१६), पलटूदास (सं० १८०० के लगभग), धर्मदास (सं० १६०० के लगभग) संत कमाल (सं० १५०५ - मृत्यु अज्ञात), वषना (सं० १६१०-१७००) आदि।

ये संत कवि, कुछ अपवादो को छोड़कर निम्न जातियों में उत्पन्न हुये थे, जैसे कबीर जुलाहा थे, रैदास चमार थे, दादू धुनिया थे, सेन नाई थे आदि आदि। निम्न कुल में उत्पन्न होकर भी इन सन्त कवियों का जनमानस में इतना प्रचार हुआ कि इनकी वाणियाँ जनता के बीच लोकोक्तियों का रूप पाकर उनके दैनन्दिन कार्यक्रमों का विधान करने लगी। ये सभी सन्त बाह्यमार्गी न होकर अन्तर्मार्गी थे जो ह्रदय की शुद्धता एवं पवित्रता पर बल देकर उस परम तत्व को ह्रदय में ही पाने का प्रयत्न करते हैं।

मध्ययुगीन समाज अनेकानेक व्याधियों, कष्टों, दुष्प्रवृत्तियों से पीड़ित था, इन संतों ने अपनी तीक्ष्ण वाणी से समाज को सन्मार्ग पर लाने का प्रयास किया। मूर्तिपूजा, तीर्थाटन का कड़े शब्दों में विरोध केवल अपनी विशेष साधना पद्धति के ही कारण नहीं किया, अपितु तत्कालीन किंकर्त्तव्य विमूढ़ जनमानस को बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी करके स्वयं का मूल्याकंन करने की दृष्टि भी दी । इस तरह से हम इन संत कवियों को तत्कालीन समाज की रोगाक्रान्त अवस्था का "शल्यचिकित्सक" भी कह सकते है।

अनेक सन्तकवियों ने गद्दियाँ भी स्थापित की। कुछ गद्दियाँ तो अभी भी विद्यमान हैं। कबीर पंथ की तीन शाखायें हुयीं – काशी शाखा, छत्तीसगढ़ी शाखा और धनौती शाखा। रैदास जी का रविदासी सम्प्रदाय, जो अभी भी विद्यमान हैं। सेन भाई का सेन पंथ, दादूदयाल एवं चरणदास के ५२ शिष्यों की बावन गद्दियाँ, जिनमें चरणदास की कुछ गद्दियाँ अभी भी विद्यमान है। रज्जब जी का रजवावत सम्प्रदाय, मलूकदास का मलूक पंथ, प्राणनाथ का धामी सम्प्रदाय, बावरी साहिबा का बावरी पंथ, जगजीवनदास का सत्तनामी सम्प्रदाय, बुल्लासाहब की गद्दी भुरकुड़ा गाजीपुर में, तुलसी साहिब का साहिब पंथ, पलटूदास का पलटू पंथ, दरियादास बिहार वाले का दरियादासी सम्प्रदाय धरकंधे में, दरियादास मारवाड़ वाले का दरियापंथ, अन्य महत्वपूर्ण सम्प्रदाय है, जिनमें कुछ की शिष्य परम्परा अभी भी चल रही है।

(ख) सन्तकाव्य परम्परा में नारी के प्रति दृष्टिकोण

सन्त मत में नारी के प्रति सन्तों का दृष्टिकोण तीन रूपों में दिखाई देता है।

१. नारी निन्दा

२. परनारी निषेध

३. सती एवं पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा

१. नारी निन्दाः

सन्त काव्य परम्परा में विषय वासना-प्रवृत्ति कारिणी और माया जाल में फँसाने वाली होने के कारण नारी निन्दा का पात्र रही है। नारी की माया के रूप में निन्दा सर्वप्रथम सन्तों ने की है, क्योंकि सांसारिक समस्याओं एवं दायित्वों से घिरी नारी उन सन्तों के सम्मुख गृह प्रपञ्च की चर्चा करके उन्हें संसार में खीचती है। परिवार वृद्धि का मूल कारण होने के करण मायाजाल में फँसाती है। वैराग्यमूलक सन्त परम्परा में कामिनी विलासिनी नारी अवरोध उत्पन्न करती थी। यह सार्वभौमिक सत्य है कि विश्व के सभी वैरागियों ने उसे तप के मार्ग की बाधा मानकर गर्हित एवं त्याज्य माना है। संस्कृत के नीति ग्रन्थों मे भी नारी निन्दा के तत्व दृष्टि गोचर होते है। वस्तुतः नारी निन्दा के सूत्र उसी काल में विकसित होते है, जब सन्यास धर्म की ओर जनमानस का झुकाव हो जाता है। जैन एवं नाथ कवियों ने उसे योग मार्ग की बाधा एव संसर्ग से पुरुष का नाश करने वाली बताया। नाथ पंथियों का यह दृष्टि बिन्दु वज्रयानियों की घोर कामुकता एवं इन्द्रिय परायणता की प्रतिक्रिया मे विकसित हुआ।[1]

विलासिता कामुकता एवं इन्द्रिय परायणता का यह वह युग था जो धर्म का चोला पहन कर अपने निन्दनीय कृत्यों पर पटाक्षेप करता है। इस युग में अनाचार इतना बढ़ गया था कि स्वयं गोरखनाथ को अपने गुरु को प्रबोधित करना पड़ा था। "जाग मच्छन्दर गोरख आया" कहकर उन्होंने अपने गुरु की विलास तन्द्रा भंग की थीं, एवं यह तथ्य प्रस्तुत किया कि नारी के संसर्ग में लीन पुरुष एवं सरिता के तट पर स्थित वृक्ष अनिश्चित जीवन वाला है–

---

[1] मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना पी० ८१ डा० उषा पाण्डेय

नदी तीरे बिरवा, नारी संगै पुरुषा ।
अलप जीवन की आसा ।[1]

नारी निन्दा का सर्वप्रथम प्रयोग कहाँ से हुआ, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है, किन्तु जब से स्त्रियों को बौद्ध धर्म में आने की छूट मिली, और बौद्धधर्म अनेक विकृत मार्गो से गुजरता हुआ तन्त्रयान, वज्रमान जैसे कलुषित विचारों को वहन करता हुआ, पथभ्रष्ट योगी के समान नारी शरीर में ही समस्त कल्याण देखने लगा, तभी से नारी विषयक अन्तर्दृष्टि प्रच्छन्न रूप में ही सही, बदलने लगी और उसका फल हमें सन्त परम्परा में नारी निन्दा के रूप में प्राप्त होता है।

कबीर सन्त परम्परा के प्रतिनिधि कवि है, नारी निन्दा की परम्परा भी मध्यकाल से ही परिलक्षित होती है। यद्यपि कबीर से पहले भी गोरखनाथ, वेणी, त्रिलोचन, नामदेव आदि ने नारी के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट की है, किन्तु एक परम्परा के रूप में हम इसे कबीर से ही प्रारम्भ देखते है, कबीर के समकालीन एवं परवर्ती जितने भी संत कवि हुये है, सबने इस विषय में कुछ न कुछ अवश्य कहा है। कुछ अपवादों को छोड़कर सभी संत कवियों के विचार एवं दृष्टिकोण, "स्त्रियों के सन्दर्भ में लगभग समान रहे है। इस संबंध में डा० अम्बाशंकर नागर का मत उद्धरणीय है, "सन्तकाव्य उस समूह गान के जैसा है, जिसकी पहली पंक्ति कोई प्रतिनिधि सन्त गाता है और शेष सन्त कवि उस रामधुन में पहले सन्त के द्वारा गायी गई पंक्ति को दोहराते रहते है।"[2]

गोरखबानी पृ० १३७
संत काव्य मे नारी से उद्धृत

यदि नारी निन्दा के संदर्भ में उक्त मत को देखें तो कबीर के द्वारा शुरू हुई परम्परा सन्त मत में अद्यतन प्रवाह मान हैं, भले ही उसका स्वरूप कुछ परिवर्तित हो गया है।

कबीर माया के अनेक रूपों में स्त्री का भी एक रूप मानते है,[1] और उस माया रूपिणी स्त्री के भी अनेक रूप हैं। वह पापिनी है।[2] वह मोहिनी है[3] जो ज्ञानी सज्ञानी सभी को मोहित करती है। वह मोहिनी समस्त जग को भव के कोल्हू में पेर रही है, कोई एक ईश्वर के जन ही उससे बच सके है। स्त्री पापिनी तृष्णा है, जिससे नेह जोड़ने लायक नहीं है।[4] वह विश्वासघातिनी है, जो भक्त और हरि के बीच अन्तर डाल देती है।[5] वह डाकिनी है जो सबको खाया करती है,[6] नारी से स्नेह बुद्धि, विवेक सबका हरण कर लेता है।[7] वह भक्ति, मुक्ति और ज्ञान तीनों का नाश करने वाली है।[8] वह जगत की जूठन है, उत्तम पुरुष उससे अलग रहते है और जो नीच होते है, वे उनके निकट रहते है,[9] नरक का कुण्ड है,[10] इससे तो भली सूली ही होती है[11] मधुमक्खी है जो उसे

---

[1] माया माता माया पिता। अति माया अस्तरती सुता। कबीर ग्रन्थावली राग गौड़ी ८४,पृ०-९६

[2] कबीर माया पापणीं, फंध लै बैठी हाटि। २ क०ग्र० पृ० ५६

[3] (क) कबीर माया मोहणीं, मोहे जांण सुजांग ।६/क०ग्र० पृ०-५६
(ख) कबीर माया मोहिणी, सब जग घाल्या घांणि।
कोई एक जन ऊबरै, जिनि तोड़ी कुल की काणि।। ८ क० ग्र० पृ० ५७

[4] त्रिया त्रिस्नां पापणीं, तासौ प्रीति न जोड़ि । क०ग्र० पृ०-५७

[5] हरि विधि घालै अंतरा, माया बड़ी बिसास। क०ग्र० ५ पृ०-५६

[6] कबीर माया डाकणीं, सब किसही कूं खाई। क०ग्र० पृ०-५८

[7] नारी सेती नेह बुद्धि बमेक सब ही हरै। ७क०ग्र० पृ०-६७

[8] नारि नसावै तीन गुन जा नर पासै होइ।
भगति मुकति निज ज्ञान मै, पैसि न सकै कोई। १० क०ग्र० पृ०-६७

[9] जोरू जुठाणि जगत की, भलेबुरे का बीच।
उत्तिग ते अलगे रहे, निकटि रहैं ते नीच।। १४ क०ग्र० पृ०-६८

[10] नारी कुंड नरक का- १५ क०ग्र० पृ०-६८

[11] सुन्दरि थै सूली भली, बिरला बचै कोई।

छेड़ता है उसे काटती है।[1] नारी की परछांई मात्र पडने से सर्प अंधा हो जाता है, तो फिर उनकी क्या गति होगी जो नित ही नारी के संसर्ग में रहते है।[2] यह ऐसी बाघिन है जो नेत्रो में अंजन लगाकर बालों, को गूँथकर एवं हाथों में मेंहदी लगाकर सबका नाश करती है।[3] कबीर नारी की ओर देखने का भी निषेध करते है, क्योंकि इसे देखते ही विष चढ़ता है,[4] इसलिये यदि अपनी माता हो तो भी उसके समीप नहीं बैठना चाहिए।[5] इसे स्त्री कहा जाय या सिंहनी जो नख-शिख से भक्षण करती है।[6] वह साक्षात यम है और कलेजा निकाल कर खा जाने वाली बिल्ली है।[7] यह तो शत्रु से भी बुरी है, क्योंकि शत्रु तो दाँव देखकर मारता है, किन्तु यह तो हँस-हँस कर प्राणों को ले लेती है।[8] वह पराई हो या अपनी उसका उपभोग करने वाला मनुष्य नरक में ही जाता है, क्योंकि आग तो आग है, उसमें हाथ डालने से हाथ में जलेगा ही।[9] वह काली नागिन है, नारी और नागिन दोनो अपने जाये का भक्षण करती है। ऐसा कहा जाता है कि नागिन अपने अण्डों का भक्षण करती है, जो उससे बच जाते है वही सर्प होते है। नारी

लोह लिहाला अगनि मै बलि-२ कोइला होई। वहीं पृ० ६८, १६

[1] कामणिं मीनी खांणि की, जे छेडौं तौ खाइ।२/ क०ग्र० पृ०-६६

[2] नारी की झाँई परत अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिन की कौन गति, नित नारी के संग।२/संत बानी संग्रह पृ०-५८

[3] नैना काजर पाई कै, गाढ़ै बांधे केस।
हाथौ मेंहदी लाई कै, बाघिन खाया देस।। ४१ संत बानी संग्रह पृ०-५८

[4] नारी देखि न देखिये, निरखि न कीजै दौरि।
देखे ही थै विष चढै, मन आवै कछु और।। कबीर साखी संग्रह, पृ०-१६६

[5] सब सोने की सुंदरी आवै बास सुवास।
जौ जननी हू आपनी, तऊ न बैठे पास।। ७ संतबानी संग्रह पृ०-५८

[6] नारी कहौ की नाहरी, नख शिख से यह खाय।। १० सतवानी पृ०-५८

[7] नारी नाहीं जम अहै, तू मत राचे जाय।
मंजारी ज्यों बोलि के काढ़ि करेजा खाय।। १२।। संतबानी पृ०-५९

[8] बैरी मारै दाव दै, यह मारै हँसिखेल ।। १४/ संतबानी पृ०-५९

[9] नारि पराई आपणीं, भुगत्या नरकहि जाई।
आगि-आगि सब एक है, तामै हाथ न बाहि।। २४/क०ग्र० पृ०-६९

भी अपने जाये अर्थात पुरुष का नाश करती है, अतः तत्वतः दोनों में कोई भेद नहीं है।[1] अवधूतों के द्वारा नारी परित्याग का कारण कबीर ने अत्यन्त विलक्षण व्यंजना द्वारा व्यक्त किया है कि नारी पुरुष की स्त्री है और स्त्री ही पुरुष को जन्म देती है, अतः उसकी माता है, तो वास्तविकता क्या है, यही विचार कर अवधूत नारी का परित्याग करते है।[2] कबीर को स्वयं की ही नहीं सारे संसार की चिन्ता थी, तभी वे जोगी को निर्देश देते हुये कहते है कि नारी के नेत्र रूपी बाणों से बचकर चलो, क्योंकि इसने श्रृंगी ऋषि, गोरखनाथ, महादेव, मत्स्येन्द्र नाथ आदि को नहीं छोड़ा तो साधारण मनुष्य की क्या बिसात?[3] यही रमैया की दुल्हन है जिसने तीनों लोकों को लूटा है। ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, नारद, पाराशर ऋषि, कनफटे जोगी, जोगेश्वर कोई भी इससे नहीं बच सका है।[4] माया के विविध रूप धारण कर वह त्रिगुण पास हाथ में लिये हुये मधुर बोलती हुई सभी स्थानों पर डोलती है। यह केशव के यहाँ कमला शिव के यहाँ भवानी, ब्रह्मा के

---

1. (क) कांमाणि काली नागणी, तीन्यू लोक मंझारि। क०ग्र० पृ०-६६
   (ख) इक नारी इक नागिनी, अपना जाया खाय। क०सा०सं० पृ०-१२६
   कबहूँ सरपट नीकसे, उपजे नाग बताय।।
2. नारि पुरुष की इस्तरी, पुरुष नारि का पूत।
   याहि ज्ञान विचारि के छांड़ि चला अवधूत।। क० सा० सं० पृ०-१६९
3. जोगिया खेलियो बचाय के, नारी नैन चलै बान।
   सिंगी की भिगी करि डारी, गोरख के लपटान।
   कामदेव महादेव सतावे, कहा-कहा करौ बखान।
   आसन छोड़ मच्छन्दर भागे, जल में मीन समान।
   कहै कबीर सुनो भाई साधो, गुरू चरनन लपटान।
   कबीर साहब की शब्दावली, भाग-९ पृ०-३२
4. रमैया की दुलहिन लूटा बाजार।
   सुरपुर लूटा, नागपुर लूटा, तीन लोक मचि गई हाहाकार।
   ब्रह्मालूटि, महादेव लूटे, नारद मुनि के परी पछारि।
   त्रिभंगी की भिंगी करि डारि, पारासर के उदर विकार।
   कनफूँका चिदाकासी लूटे, जोगेश्वर लूटे करत विचार।
   कहे कबीर सुनो भाई साधो, इस ठगिनी से रहो हुसियार।
   कबीर सा०की शब्दावली, भाग-४ पृ०-२२

यहाँ ब्रह्माणी, भक्त के साथ भक्तिन, जोगी के पास रहकर जोगिन एवं राजा के घर रानी बन बैठती है।

कबीर कही-कहीं आवश्यकता से अधिक कटु हो गये है। वे नारी के प्रति नहीं अपितु नारी जाति के प्रति अविश्वास से भर उठे है। उनके मत से गाय, भैंस, घोड़ी, हथिनी, और गदही भी अन्ततोगत्वा नारी ही है, अतः जिस घर में ये मादा पशु भी हो, वहाँ नहीं रहना चाहिये।[1] उनके अनुसार तो नारी संसर्ग इतना निन्द्य है कि जिस स्थान पर किसी कामिनी को जलाया गया हो, उस स्थान के निकट भी न जाने की सलाह देते है, क्योंकि यदि उसकी भस्म का स्पर्श भी हो जायेगा, तो शरीर संज्ञाशून्य हो जायेगा।[2] एक पद में नरक के कूप का रूपक बांधते हुये कबीर नारी शरीर के प्रति पुरुष के मन में घृणा एवं कुत्सा का भाव जागृत करतें है और प्रश्न करते है कि आखिर क्या देखकर पुरुष नारी के प्रति इतना आकर्षित है।[3]

संत दादू की नारी विषयक धारणा भी कबीर के अनुरूप ही है। नाना रूप धारिणी कनक कामिनी द्वारा मुग्ध किया हुआ मनुष्य माया गृह के कूप में डूब रहा है।[4] नारी के लिये भामिनी शब्द का प्रयोग करते हुये दादू का कथन है कि यह नारी हरिनाम का विस्मरण कराने वाली है और सारा संसार उसी "भामिनी"

---

1. संत काव्य मे नारी - डा० कृष्णा कोस्वामी पृ०-१०३
2. संत काव्य में नारी - डा० कृष्णा गोस्वामी पृ०-१०३
3. क्या देख दिवाना हुआ रे।
   माया सूली सार बनी है, नारी नरक का कुवा रे।
   हाड़ मांस नाडी कापिजर, तामे मनुवा सूवा रे। क०सा०की शब्दावली पृ०-२१
4. बूडि रह्या रे बापुरे, माया गृह के कूप।
   मोह्या कनक अरू कामिनी, नाना विधि के रूप।।
   दादू दयाल जी की बानी वे०प्र०इला०पृ०-११२

के नाना रूपों मे आबद्ध है।[1] ये पत्नी रूप में नारी का ग्रहण अधर्म समझते है और अवधूतों द्वारा नारी-त्याग की मान्यता का समर्थन करते है।[2] इन्होंने नारी को नागिन बतलाते हुए कहा है कि इसका डसा हुआ जीवित नहीं रहता है। इन्होंने एक बात और कही है कि जैसे बिल्ली का बडा रूप बाघिन है वैसे ही नागिन का बड़ा रूप नारी है अतः जो उसमे रत हुआ उसका सर्वनाश सुनिश्चित है। नारी नागिन होकर पेट में प्रविष्ट होती हे और तब उसे कोई निकाल नहीं सकता। इस अवस्था में वह किसी को भी नहीं छोड़ती, सबको डस लेती है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश जैसे देवता भी उससे नहीं बच सके। पुरुष को इसका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये, क्योंकि वृद्धों को तो यह बाबा-बाबा कहकर, समवयस्कों को भाई-भाई कहकर और छोटी उम्र वालों को बेटा कहकर घोलकर पी जाती है। ब्रह्मा, विष्णु महेश तक को इस नारी ने नहीं छोड़ा।[3] अतः यदि तुझे राम से प्रेम है तो नारी से प्रेम त्यागना होगा।[4]

संत रज्जब जी तो गृहिणी को ग्राह ही समझते है। गज-ग्राह के रूपक से गृहिणी को संसार सागर में खींचने वाला ग्राह बताया है।[5] उनका कहना है कि जब जड़ पदार्थ (चक्की और चरखा) गृहिणी के हाथों में पडकर चक्कर

---

[1] नाना विधि के रूप धरि, बँधे सब भामिनी।
जग विटम्ब पर तय किया, हरि नाम भुलावनी।। दादूदयाल जी की वानी पृ०-११९

[2] माता नारी पुरिष की, पुरिष नारी का पूत।
दादूग्यान विचारि करि, छाडि गये अवधूत।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी मे उद्धृत पृ०-४३

[3] सत काव्य मे नारी- डा० कृष्णा गोस्वामी पृ०-११०-१११

[4] नारी नेह न कीजिये जो तुझ राम पियारा। भक्तिकालीन काव्य के नारी से उद्धृत पृ०-३९

[5] मदन महावत देह द्विपि, गृहसागर ले जाय।
तहाँ ग्राह गृहिणी ग्रहे, कोण छुडावे आय।। भक्ति कालीन काव्य के नारी से उद्धृत पृ०-४०

काटते-काटते घिस गये, तो चेतनाशील नर कैसे बचे हर सकते है।[1] कामिनी कायर है जो विपत्ति को साथ लाती है।[2]

मूलकदास ने स्त्री की तुलना बटमार से करते हुये उसे मिस्री की छुरी गले से लगाकर सारे संसार का सर्वस्व हरण कर लेने वाली कहा है।[3] यह ऐसी मिसरी की छुरी है जो ब्रह्म से ब्रह्मस्वरूप जीव को ही लड़ा देती है।[4] इन्होंने नारी की ओर निहारने का भी निषेध किया है।[5] नारी को अमल की घोंटी (अफीम की गोली) बताते हुये सारे संसार को अमली (अफीमची) कहा है।[6] वह काली नागिन और कलह का भण्डा है।[7] माया मगन महन्त है, जिसके पास नहीं बैठना चाहिये, क्योंकि यह कौड़ी-कौड़ी के लिये लड़ पड़ता है और पचास तरह की बातें करता है।[8]

संत सुन्दर दास तो नारी के वाह्य स्वरूप को ही सुन्दर मानते हुये, भीतर तो कचरा ही कचरा है।[9] उसकी जो सराहना करे वे बड़े ही गॅवार है।[10] वह विष

---

[1] चाकी चरखा घासि गये, भ्रगि-भ्रमि भामिनी हाथ।
तो रज्जब क्यों होहिंगे, नर निह्चल तिन साथ।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी उद्घृत पृ०-४५

[2] *रज्जब कायर कामिनी, रही विपति के संग।* सत्त सुधारसार- पृ०-५१७

[3] मिसरी की छुरी गल लाइके, इन मारा ससार। मलूकदास जी की बानी पृ०-१२

[4] माया मिसरी की छुरी मत कोई पतियाय।
इन मारे रसवाद के, ब्रह्महि ब्रहम लड़ाय।। सत बानी सग्रह पृ०-१०३

[5] नारी नांहि निहारियें, करै नैन की चोट। संतबानी संग्रह पृ०-१०३

[6] नारी घोंटी अमल की, अमली सब संसार। सतंबानी संग्रह पृ०-१०५

[7] संत काव्य में नारी - पृ०-११६

[8] माया मगन महन्त के, तुम मत वैठो पास।
कौड़ी कारण लड़ पड़े, कथनी कथै पचास।। मलूकदास जी की बानी पृ०-३८

[9] सुन्दर देह मलीन है, राख्यौ रूप संवारि।
ऊपर में कलई करी, भीतर भरी भंगारि।। भक्ति कालीन काव्य मे नारी पृ०-४३

[10] सुन्दर कहत नारी नख शिख निंद रूप।
ताहि जे सराहै ते तो बड़ेई गॅवार है। सुन्दरदास ग्र० पद ४ पृ०-४३८

के अंकुर और फूल वाली विष की लता है,[1] लता ही नहीं वह स्वयं सघन वन भी है, जिसमें प्रविष्ट होने वाला राह भूल जाता हैं। उसकी गति में कुंजर का कटि में सेंह का, और वेणी में काली नागिन का भय है।[2] ठग तो केवल वस्त्र लूटते हैं, किन्तु नारी स्पर्श मात्र से त्वचा को भी लूट लेती है।[3] नारी का शरीर तो नरक कुण्ड है ही, शीघ्रता से पतन की ओर ले जाने वाला भी है।[4] तर्क चितावनी में विस्तार पूर्वक सुन्दरदास जी पुरुष के विषयो में फॅसने का वर्णन करते है, स्त्री के इंगित पर कपि के समान नाचने को बाध्य पुरुप उसके संसर्ग को ही मोक्ष मान लेता है।[5] सुन्दरदास जी ने नारी शरीर का अत्यन्त वीभत्सतापूर्ण वर्णन किया है। वे नारी के प्रति आवश्यकता से अधिक कटु हो गये हैं। जिन तत्वों से नारी शरीर निर्मित है और सुन्दरदास जी के शब्दों में वितृष्णा एवं घृणा की पात्र है, वस्तुतः नर शरीर भी उसी से निर्मित हैं। वीभत्सता की पराकाष्ठा पर पहुँचते हुये वे कहते है कि, "पुरिष मुत्र हूं ऑत एकमेक मिलि रहीं।" उसकी प्रभुता पाप

---

[1] विषकी भूमि मांहि, विष ही के अंकुर भए।
नारी विष बेल बढ़ी नख शिख देखिये।
विष के तन्तु पसारि, उरझाए ऑटी भरि।
सब नर वृक्ष पर लपटी ही लेषिये। वही पद २ पृ०-४३८

[2] कामिनी की देह मानौ कहिये सघन बन
उहॉ कोउ जाइ सो तौ भूलि के परतु है।
कुंजर है गति कटि केहरि का भय जामैं,
बेनी काली नागिन ऊ फन कौ धरतु है। सुन्दरदास ग्रन्थावली पृ०-४३८

[3] त्वचाहू लै जाय करि नारि सूॅ स्पर्श करे।
सुन्दर कोइक साधु ठगन ते डर्‌यो है। सुन्दर विलास वे०प्र० पृ०-१०

[4] देखत ही सब परत है हो नरक कुण्ड के माहि।
या नारी के देह सो हो वेगि रसातल जाहि।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी से उद्‌धृत पृ०-४३

[5] कामिनी संग रह्यौं लपटाई।
मानहु इहै मोक्ष हम पाई।
जो त्रिय कहे तो अति प्रिय लागै।
निश दिन कपि ज्यो नाचत आगे।
मारउ स है, सहै पुनि गारी।
अइया मनुषहु बूझि तुम्हारी।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी से उद्‌धृत पृ०-४१

के जैसी, सम्मान साँप के जैसा, बड़ाई बिच्छू के जैसी और वह स्वयं साक्षात् नागिन है।[1] अतः सुन्दरदास जी नारी त्याग का उपदेश देते है।[2]

दादू पंथी संत गरीबदास इस बात से सशंकित है कि माया की नदी में यौवन का जल भरा हुआ है, तारूण्य की लहरें उठ रही है, इससे पार कैसे पाया जा सकता है।[3] नारी रस होने के कारण ही इन्द्र की बड़ी दुर्दशा हुई थी। दुर्वासा जैसे ऋषि जिनके उग्र तप से संसार भयभीत था, वे भी उर्वशी पर मोहित होकर बरबाद हो गये, गुरु मत्स्येन्द्र नाथ भी सिंहल द्वीप में नारी के वशीभूत हो गये।[4] गन्धर्वसेन को नारी के ही कारण गर्दभ बनना पड़ा था।[5]

संत धरनीदास जी ने नारी को चौराहे पर बटमारी करने वाली कहा है, जो भी उस मार्ग से निकलता है उसका लुटना अवश्यम्भावी है।[6] वह दामिनी के सदृश चंचल है और हाथ में (दाम,धन रूप) फांसी का फंदा लिये है।[7]

दरिया साहब, (बिहार वाले) कनक और कामिनी के फंदे में पड़े हुये मनुष्य को कलप-कलप कर जीवन व्यतीत करने वाला और व्यर्थ जीवन वाला मानते

---

[1] संत काव्य मे नारी डा० कृष्ण गोस्वामी पृ०-११९

[2] कनक कामिनी छोड़ै सगा।
आशा तृष्णा करे न अंगा।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी - पृ०-४४

[3] पार पाऊ कैसे?
माया सरिता तरून तरगिनि, जल जोवनको वैसे। भक्तिकालीन काव्य मे नारी पृ०-४०

[4] संत काव्य मे नारी पृ०-११९

[5] संत काव्य में नारी पृ०-११९

[6] नारी बटमारी करै, चार चौहटे माहि।
जो वोहि मारग होई चलै, धरनी निबहै नाहि।।
धरनीदास जी की बानी पृ०-५८

[7] दामिनी ऐसी कामिनी, फाँसी ऐसो दाम।
धरनी दुई तै बाचिये, कृपा करै जो राम।। धरनीदास जी की बानी पृ०-५८

है।[1] जो जीव नारी के वशवर्ती है, उन्हें संतो के वंश का नहीं मानते है। भवसागर से पार वही जा सकता है जो नारी का त्याग करता है।[2] कामिनी यम पाश है[3], अतः उसके त्याग में ही कल्याण है।[4] नारी रूप में वही स्त्री धन्य है जो जठराग्नि से बचाकर शिशु को पालती है, और तब उसे जन्म देती है।[5]

जगजीवन दास ने तो नारी को चाहे माता हो या पत्नी जानबूझ कर कुचाल चलने वाली बताया है।[6] रैदास का अनुभूत सत्य है कि नारी ऐसी है कि पुरुष के मरने पर तुरन्त उसका त्याग कर देती है, चाहे वह उसकी कितनी भी प्रिय हो।[7] नानक भी इसी मत के हैं कि सब कुछ शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता हैं।[8] संत कमाल के मत से तो नारियॉ विष तुल्य है।[9] और इनके त्याग में ही कल्याण है।[10] गुरू अर्जुनदेव ने तो विषयासक्ति की बड़ी निन्दा की है और विषयासक्त जीवन को अगले जन्म में विष्ठाकीट होना अवश्यंभावी बतलाया है।[11]

---

[1] कनक कामिनी के फंद मे, ललची मन लपटाय।
कलपि-कलपि जिव जाइहै, बिर्था जनम गॅवाय।। संत बानी सग्रह पृ०-१२२

[2] जो जिव फंदे नारि से सो नहिं बंस हमार।
बंस राखि नारी जो त्यागे, सो उतरे भवपार।। संत बानी संग्रह पृ०-१२२

[3] कामिनी कनक फन्द जमजाला। दरिया सागर, बे० प्रे० पृ०-५

[4] दरिया सागर पृ०-३९

[5] ज्यौ जननी प्रतिपाले सूत, गर्भवास जिन दियो अकूत।
जठर अगिनि ते लियो है काढ़ि, ऐसी वाकी बर बाढ़ि।। दरिया साहब (बिहार वाले) के चुने हुये शब्द वे० प्रे० पृ०-२३

[6] मातु पिता सुत हित मै नारि।
चलत कुचाल कुमन्त्र विचारि।। जगजीवन साहब की बानी, भाग-२ वे०प्रे० पृ०-७

[7] घर की नारि उरहि तन लागी।
उह तौ भूतु भुतु करि भागी।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी पृ०-४४

[8] सब कुछ जीवत को व्यवहार।
मातु पिता भाई सुत बान्धव, अरू पुनि गृह की नारि। भक्तिकालीन काव्य मे नारी पृ०-४४

[9] कांचन नारी जहर सम देखे। भक्ति कालीन काव्य मे नारी पृ०-४५

[10] कनक कामिनी तज कै बाबा आपनी बादशाही। सत काव्य पृ०-२२७

[11] जो जानै मैं जोवन वन्तु।
सो होवत विषटा का जन्तु ।। भक्ति कालीन काव्य मे नारी पृ०-३९

संत सिंगा जी तो इस मत के हैं कि कामादि पञ्चशत्रु जड़मूल से नाश करने वाले है, अतः माता पिता जिन्होंने जम्म दिया है, को छोड़कर अन्य किसी के बंधन में नहीं बँधना चाहिये, अत हे जीव तू पत्नी का सहारा मत तक[1] संत त्रिलोचन तो पुरुष को प्रबोधित करते हुये कहते हैं कि कामवासना मनुष्य का दूसरा जन्म भी नष्ट कर देती है। वासना की कारण स्वरूप स्त्री को जो मनुष्य अन्त समय स्मरण करता हैं उसे अगला जन्म वेश्या की योनि में प्राप्त होता है।[2]

संत गुलाल के मत से तो स्त्री ने तीनों लोकों में जाल फैलाकर सबकों मोहित करके उनकी चेतना का हरण किया और उन्हें अपने इंगित पर खूब नचाया।[3] यह काल स्वरूप है और जीवन के हर मोड़ पर लुभाती हुई माया के बन्धन में बांधती है। सबसे भोग करने पर भी कुमारी कन्या बनी रहती है। यदि यह जननी होकर पालन करती है तो पत्नी बनकर सबका भक्षण करती है। ज्ञान, ध्यान का हरण करके, मोह के जंजाल में फँसाने वाली है।[4]

सन्त चरनदास जी मनुष्य को कामज्वाला से दूर रहने का उपदेश देते है,क्योंकि यह मनुष्य को पागल और निर्लज्ज कर देती है।[5] इसी के कारण

---

[1] पॉच रिपु तेरे संग चलत है,
हरे। वो जड़ा मूल सो सोवै।।
मात पिता ने जनम दिया है,
हरे। वो त्रिया संग न जो वै। भक्तिकालीन काव्य में नारी पृ०-३९

[2] *अंतकाल जो स्त्री सिमरे, ऐसी चिंता मांहि जे मरे।*
बेसवा जोनि वलि बलि अउतरे। वहीं- पृ०- ४३

[3] वज्र बांध सब ही को बांध्यो,
बांधी बांध नचाया। गुलाल साहब की बानी वे०प्रे० पृ०-१७

[4] गुलाल साहब की बानी बे०प्रे, पृ०-१७

[5] *यह काम कुरारे भाई, सब देवै तन बौराई।*
पचो में नाक कटावे, वह जूती मार दिलावै।।
चरणदास डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृ०-२३

समाज में अपमान सहना पड़ता है।[१] इसका कारण स्त्री है जो नरक की खान, सिंह से भी अधिक भयंकर, मदार और भटकटैया से भी भयानक और विषाक्त है।[२] इसलिये चाहे स्वकीया हो या परकीया दोनों त्याज्य है क्योंकि आग तो आग है उसका काम जलाना है, वह चाहे घर की हो या बाहर की।

भीखा साहब धन पुत्र और स्त्री को कठिन फॉस मानते है।[३] जिसमें मनुष्य जन्म जन्मान्तर से फँसकर उसका दास बन जाता है। गुजरात के कबीर कहे जाने वाले सन्त "अखा" ने भी माया, वासना, कंचन एवं कामिनी की निन्दा की है। उनके अनुसार माया तेली है, मन बैल है, शरीर घानी है जिसमें मानव मन की कामनायें पेरी जाती है।[४] नारी सर्पिणी, बाघिन एवं डाकिन है।[५] माया और स्त्री एक दूसरे से अभिन्न है,[६] और ब्रह्म कवच पहन कर ही उससे बचा जा सकता है।[७]

---

[१] मॅुह काला गधे चढ़ावे, बहु लोग तमासा आवै।
झिड़का ज्यों डोले कुत्ता सबहीं के मन सु उत्ता।
चरणदास डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित पृ०-२३

[२] जिन-२ आरे तको डायन की बहु तन कूँगाई भखरे।।
दूध आक को पात कटैया, काल आगिन की जानो।
सिंह मुछारे विषकारे को ऐसे ताहि पिछानो।
खानि नरक की अति दुखदाई, चौरासी भरमावे।
चरणदास डा०त्रिलोकीनारायण दीक्षित पृ०-२३

[३] जन्म जन्म के उरझनि पुरझानि,
समुझत करकत हीया।
यह तो माया फॉस कठिन है,
का धन सुत वित तिया। भीखा साहब की बानी वे०प्रे० पृ०-३

[४] माया तेली मन वृषभ, काया, घाणी फेर।
अरवा पिलाए कामना, अरू होता जाय उमेर। सतकाव्य मे नारी पृ०-११४

[५] संतकाव्य मे नारी पृ०-११४

[६] संतकाव्य मे नारी पृ०-११४

[७] सतकाव्य मे नारी पृ०-११४

सन्त प्रीतम दास नारी को समस्त बंधनों में सबसे कठिन एवं अटूट बंधन मानते है।[1] नारीविषय वासना के जल से पूरित नदी है।[2] वह नर को अध्यात्म पथ से विरत करती है।[3] नारी निर्दय एवं कठोर कृपाण के सदृश है जो नर को काटने में तनिक भी विलम्ब नहीं करती। नारी नागिन एवं पुरुष मेढक है। वह हाव भाव दिखला कर नर को अनुरक्त करती है एवं मौका देखकर मूषक रूप नर को स्वयं मार्जारी बनकर खा जाती है।[4] कबीर दादू एवं सुन्दरदास की तरह पलटूदास की भी वाणी नारी के प्रति भर्त्सनापूर्ण रहीं हैं। वे तो अस्सी वर्ष की वृद्धा का भी विश्वास नहीं करते है क्योंकि जीवित अवस्था में नारी पुरुष के शरीर का शोषण करती हैं औ मरने पर नरक ले जाती है।[5] इसलिए जैसे मृत सिंह की खाल को देखकर हाथी डर जाता हैं, वैसे ही वे भी अस्सी वर्ष की वृद्धा का विश्वास नहीं करते।[6] संसार खरबूजा है, जिसे नारी के छुरी रूपी नेत्रों से कटना अवश्यभावी है। उसके नेत्र शेर का पंजे के समान नाश करने वाले है।[7] यह देवों की घर की अप्सरा और योगी के घर की चेली है। इस अकेली माया ने कृष्ण को गोपी बनकर, राम को सीता बनकर, महादेव को पार्वती बनकर,

---

[1] बंधन बीजे बहुत है, नारी समो नहीं कोय। संतकाव्य मे नारी पृ०-१२७

[2] नारी नदी स्वरूप है, प्रबल विषय को पूर।
कह प्रीतम केते गए, तासे रहियो दूर।।
संतकाव्य मे नारी पृ०-१२८

[3] परमेश्वर के पन्थ में नारी उर चोपास।
कहै प्रीतम अधबीच से, उड़ावे आकास।। संतकाव्य में नारी पृ०-१२८

[4] संन्त काव्य मं नारी पृ०-१२८

[5] अस्सी बरस की बूढ़ि कौ, पलटू ना पतियाय।
जियत निकोंवे तन्तु को, मुए नरक लै जाय।। संत बानी सग्रह पृ०-२२३

[6] मुए सिंह की खाल को हस्ती देखि डराय।
असिउ बरस की बूढ़ि को पलटू ना पतियाय।। सत बानी सग्रह पृ०-२२३

[7] खरबूजा संसार है, नारी छुरी..नैन।
पलटू पंजा सेर का, यो नारी का नैन।। संत बानी संग्रह पृ०-२२३

गृहस्थ को गृहिणी बनकर और दौलत बनकर तीनों लोकों को खा लिया है।[1] वह विष घोल कर देने वाली कलवारिन है।[2] इस ठगिनी ने सारे संसार को ठग लिया है। त्रिगुण फाँस हाथ में लिये हुये इस माया से बचने वाला संसार में एक भी नहीं है।[3] धनी धर्मदास नारी को सर्वस्व हरण करने वाली बताते है।[4]

सन्त परम्परा में आने वाले दूलनदास प्राणनाथ, यारीसाहब और दरिया साहब (मारवाड़ वाले) की वाणी मे नारी निन्दा का स्वर नहीं सुनाई देता है। दूलनदास तो नारी के प्रति अत्यन्त उदार दृष्टिकोण वाले है। उनके अनुसार तो स्त्री समस्त संसार की माता है, और पोषण करके बड़ा करती है। अतः वह निन्दा के योग्य नहीं है, वरन् वन्दनीय है। जो इनकी निन्दा करते है, वे झूठे है।[5] इनके द्वारा की गई नारी विषयक अभिव्यक्ति सन्त काव्य परम्परा में अपवाद है।

---

1. माया हमें अब जानि बगदावों, तुम तो ठगिनी जग बौरानो।
देवन के घर भयऊ अप्सरा, जागी के घर चेली।
सुर नर मुनि तो सबहीं खायो, होइ अलमस्त अकेली।
कृस्न कहँ गोपी होई खायो, राम कहँ होई सीता।
महादेव कॉ परबती होई, तो से कोऊ न जीता।
दौलत होई तिन लोकहुँ खायो, गिरही की है नारी।
पलटू साहब की बानी भाग-३, वे०प्रे० पृ०-४५
2. माया कलवारिन देत विष घोरि के
पिऍ विष सबै ना कोऊ भागे।। पलटू साहब की बानी भाग३ वे०प्रे० पृ०-३१
3. माया ठगिनी जग ठगा, इकहै ठगा न कोय।
इकहै ठगा न कोय, लिए है त्रिगुन गॉसी।। पलटू साहब की बानी भाग३ वे०प्रे० पृ०-७६
4. तिरिया निकट बुलाई कै दै गई माथे हाथ।
ले गई रंग निचाइ कै ज्यों तेली के काथ।। भक्ति कालीन काव्य में नारी पृ०-४५
5. जगतु मातु वनिता अहैं, बूसी जगत जियाव।
निन्दन जोग न ये दोऊ, कहि दूलन मत भाव।।
वनिता ऐसी है बडी देखा यह ससार।
दूलन बन्दे दुहून को, झूठे निन्दन हार।। दूलनदास जी की वाणी वे०प्रे० पृ०-३६

(२) परनारी निषेध

सन्तजन माया का सबसे बड़ा रूप नारी को मानते है, जो भक्त और उसके आराध्य के बीच अन्तर डाल देती है।[1] उनकी वाणी में नारी और काम को एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयोग किया गया है। नारी और काम का यही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध इन सन्तजनों के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। फिर भी जगत के शाश्वत एवं सार्वकालिक गार्हस्थ भाव से विरत हो जाना इतना सहज नहीं है जितना सहज इसके मूल कारण नारी को समस्त समस्याओं की जड़ बताते हुये उसकी निन्दा करना है। वैसे भी आश्रम चतुष्ट्य की अवहेलना करके, केवल सन्यास आश्रम का अवलम्ब लेकर ये सन्त जन जिस मार्ग पर चलना चाहते थे, उनकी मनोवृत्ति उसके अनुकूल नहीं थी क्योंकि "चित्तवृत्ति निरोध" जिस मानसिक परिपक्वावस्था का परिणाम है उससे इन सन्तों का परिचय ही नहीं होता था। अतः सन्त जनों ने मध्यम मार्ग का अनुसरण करते हुये गृहस्थ आश्रम तो स्वीकार किया किन्तु "परनारी निषेध" का उपदेश दिया। संतों में से अनेक सद्‌गृहस्थ थे, अतः गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी आसक्ति त्याग इनका मत था और परस्त्रीगमन निकृष्ट कोटि का कार्य और अक्षम्य अपराध था। सभी सन्त कवियों ने परनारी लोभ की निन्दा की है। कबीरदास के मत से तो रावण के दस सिरों का नाश परस्त्रीगमन के ही कारण हुआ था।[2] परस्त्री शूल के घाव की तरह कष्टकारी है।[3] स्वामी सुन्दरदास तो परनारी रत जनों को अज्ञानी समझते

---

[1] हरि बिचि घलै अंतरा, माया बड़ा विसास। कबीरं ग्र० पृ०-५६
कबीर माया पापणी, हरि सूँ करे हराम। कबीर ग्र० पृ०-५६

[2] परदारा पैनीछुरी मत कोई लावों अग।
रावण के दस सिर गये परनारी के संग।। संत बानी सग्रह भाग१, पृ०-५७

[3] परनारी, परसुन्दरी, जैसे सूली साल। कबीर साखी संग्रह पृ०-१६६-६७

है।[१] नानक देव परस्त्री लोभ को विकार की श्रेणी में रखते है।[२] रज्जब जी ने तो अपनी ही गृहिणी छोड़ दी फिर दूसरे की स्त्री से क्यों प्रेम करने लगे, सर्प और केंचुल के उदाहरण से उन्होंने इस तथ्य को उद्घाटित किया है।[३] संत नामदेव तो परदारा त्याग को उच्चादर्श मानते हैं और ऐसे लोगों के निकट ईश्वर का सामीप्य होता है।[४] चरणदास जी के मत से परनारी का स्पर्श नरक को ले जाने वाला है।[५] जो पर नारी को अपनी समझते है वे परम अज्ञानी है।[६]

(३) सती की प्रशंसा

सभी सन्त कवियों ने सती एवं पतिव्रता स्त्रियों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इन कवियों ने वासनायुक्त, मायारूपिणी, कुमार्गगामिनी, व्यभिचारिणी नारी की जितनी निन्दा की है, सती एवं पतिव्रता नारी की उतनी ही प्रशंसा की है। सती एवं कबीर पतिव्रता एवं व्यभिचारिणी में अन्तर स्पष्ट करते हुये कहते है कि जिस स्त्री के एक पति है वह अत्यन्त सुखी है जबकि व्यभिचारिणी के अनेक खसम है फिर भी उसे कष्ट है।[७] पतिव्रता स्त्री कैसी भी हो, काली, कलूटी

---

[१] अपनी गनेन पर की नारी,
अइया मनुषहुँ बूझि तुम्हारी। भक्तिकालीन काव्य में नारी पृ०-५०

[२] परदारा परधन पर लोभा,
हउमे विपेविकार।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी पृ०-५०

[३] रज्जब घर घरणी तजी पर घरणी न सुहाय।
अहि तजि अपनी केचुली किसकी पहिरे जाय।। भक्तिकालीन काव्य में नारी पृ०-५०

[४] परधन परदारा परिहरि, ताके निकट बसे नरहरी। संत सुधासार पृ०-५४

[५] परनारी सब चेतियो, दीन्हों प्रकट दिखाय।
पर तिरिया पर परूस हो, भोग नरक को जाय।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी पृ०-५०

[६] पेट भरे भर सोइया ते नर परू समान ।
परनारी के आपनी तिनका नाहीं ज्ञान।। चरणदास जी की वाणी पृ०-८०

[७] पतिवरता को सुख घना, जा के पति हैं एक।
मन मैली विभिचारिनी, जाके खसम अनेक। संत वानी संग्रह पृ०-४०

कुरूपा और मैली हो, उस पर करोड़ो सौन्दर्य शालिनी स्त्रियॉ न्यौछावर की जा सकती है।[1] पतिव्रता स्त्री यदि काँच की माला भी पहने हो तो भी इतनी सुन्दर लगती है जैसे सूर्य एवं चन्द्रमा की ज्योति को धारण किया हो।[2] सती की तुलना साधू, सूरमा, ज्ञानी और गजदन्त से कहते हुये वे कहते है कि ये सब अग्रसर होने पर वापस नहीं जाते है।[3] सती स्त्री घर-घर घूमकर पीसना नहीं पीसती, ये तो रॉड (पतिविहीन) के कार्य है।[4] कबीर ने चार प्रकार की स्त्रियों की प्रशंसा की है–कुमारी आत्मा, विरहिणी, पतिव्रता एवं सती। रैदास ने भी सुहागन की प्रशंसा करते हुये उसे संसार मे सबसे सुखी बताया है।[5] रज्जब जी ने कामिनी को कायर एवं सती को सूरमा बताया है।[6] संतदादू पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा करते हुये कहते है कि वह कभी भी अपने प्रिय का नाम अपने मुख से नहीं लेती है।[7] स्त्री निम्नकुल की हो या उच्चकुल की पति सेवा ही उसका धर्म है। रूपवान होना कोई कसौटी नहीं है।[8] वह सभी प्रकार से अपने पति में रत रहे, अन्य पुरुषों को भाई मानें।[9] पतिव्रता के प्रणय की पराकाष्ठा दादू के मत में वह स्थिति

---

1. पतिवरता मैली भली काली कुचित कुरूप।
पतिवरता के रूप पर वारौ कोटि सरूप।। संत बानी संग्रह पृ०-४०
2. पतिवरता मैली भली, गले कॉच की पोत।
सब सखियन में यौ दिपे, ज्यों रबिससि का जोत।। संत बानी संग्रह पृ०-४०
3. साधसती और सूरमा, ज्ञानी और गजदन्त।
एते निकसि न बाहुरे, जो जुग जॉय अनन्त।। क०सा०सं० भाग१-२ पृ०-२३
4. सती न पीसे पीसना, जे पीसे सो रॉड़। क०सा०सं० भाग१-२ पृ०-२३
5. सुख की सार सुहागन जाने।
तन मन देय अन्तर नहिं आने।। रैदास बानी पृ०-३०
6. रज्जब कायर कामिनी रही विपत के संग।
सती चढी सिर चढ़न कूँ पहर पटम्बर अंग। संत सुधासार पृ०-५१७
7. सुन्दरि कबहूँ कंत का, मुख सौ नांव न लेई
अपणे पिव के कारणे, दाइ तन मन देइ। संत बानी संग्रह पृ०-१९
8. नीच ऊँच कुल सुन्दरी, सेवा सारी होइ।
सोइ सुहागिनि कीजिये, रूप ने पीजिये धोइ। सत बानी सग्रह पृ०-१९
9. आन पुरिष हूँ बहनड़ी, परम पुरिष भर्तार। संत बानी संग्रह पृ०-१९

है, जब वह समझने लगे कि उसका शरीर, मन, प्राण और पिण्ड सब कुछ उसके प्रिय का है, और उसका प्रिय केवल उसका है। यह सर्वस्व समर्पण एवं व्यक्तित्व विलीनता की स्थिति आदर्श स्थिति है।[१] सुन्दरदास जी जो नारी के कटु निन्दक थे, ने भी पतिव्रता की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। पतिव्रता अपने पति को ही सब कुछ समझती है, ऐसी स्त्री को अष्ट सिद्धि एवं नवनिधि स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। वह अपने प्रिय का मार्ग देखती रहती है।[२] संत चरणदास जी के अनुसार पतिव्रता वहीं है जो पति की आज्ञा भंग न करे। उसे किसी अन्य का ढंग नहीं सुहाता, वह अपने प्रिय के रंग में रंगी रहती है।[३] वहीं पटरानी है और रूपवान है जो अपने प्रिय को प्रिय हो।[४] संत चरणदास पतिव्रता को केवल पति की ओर देखने का निर्देश देते है।[५] पलटू की दृष्टि में पतिव्रता वहीं है जो पतिव्रत धर्म का निर्वाह करती हुई अपने मार्ग से न डिगे।[६] स्वामी वाजिंद जी के अनुसार पतिव्रता स्त्री पति के सभी दोष अपने ऊंपर ले लेती है।[७] उसे किसी और द्वारा

---

[१] तन भी तेरा मन भी तेरा, तेरा पिड परान।
सब कुछ तेरा तू है मेरा, यहु दादू को ज्ञान ।।सत बानी संग्रह पृ०-१

[२] मारग जोवै विरहिनी, चितवै पिय की ओर।
सुन्दर जियरे जक नहीं, कल न परत निंस भोर।। संत बानी सगह पृ०-१०९

[३] पतिवरता वहि जानिये, आज्ञा करे न भंग।
प्रिय अपने रंगरते, और न सोहे ढंग।। संत बानी संग्रह पृ०-१४७

[४] पतिमन मानी सो पटरानी, सोइ रूप उजारी है।
चरनदास जी की बानी भाग-२, पृ०-३४

[५] पति की ओर निहारियें औरन सूँ क्या काम। स०बानी सग्रह पृ०-१४७

[६] परन नीबाहे और सॉच मे दाग न लावे।
ज्यों पति वर्त्ता नारि डिगे ना लाख डिगावे।। पलटू साहब की बानी भाग-२, पृ०-६६

[७] सूर कमल वाजिद न सुपने मेल है।
जरे घौस अरू रैण कढ़ाई तेल है।
हम ही मै सब खोट, दोष नहीं श्याम हूँ।
हरि हॉ वाजिन्द ऊॅच नीच रो बधे कहो किमि काम हूँ। भक्तिकालीन काव्य मे नारी पृ०-५९

दी हुई वस्तु नहीं सुहाती, उसके लिये तो अपने स्वामी के हाथ का पत्थर भी भला है।[1]

संत रज्जब जी के अनुसार पतिव्रता स्त्री एक मात्र अपने पति को ही संसार में पुरुष मानती है।[2] संत जगजीवन दास पति पर तनमन वारने वाली और उसकी चरण छाया में रहने वाली पतिव्रता के गुण गाते है।[3] संत दूलनदास[4] और दरिया साहब (बिहार वाले) भी इसी मत के है।[5]

इस प्रकार हम देखते है कि लगभग सभी संत कवियों ने सती एवं पतिव्रता स्त्री की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। इन सन्त कवियों ने गृहस्थ और सन्यास धर्म में समन्वय स्थापित किया। इन सन्त कवियों ने सन्यास आश्रम की महिमा बताते हुये भी गृहस्थाश्रम को प्रतिष्ठा दी, और समाज को अति मात्राओं के त्याग (ग्रहण और परित्याग) द्वारा मध्य मार्ग पर चलने का उपदेश दिया जो दादू के शब्दों में ग्रहण और परित्याग के मध्य मार्ग द्वारा मुक्ति की उपलब्धि का उच्चादर्श था–

ना हम छांड़े ना ग्रहे, ऐसा ज्ञान विचार ।
भद्विभाव सेवै सदा दादू मुक्ति द्वार ।।[6]

---

[1] आवेगे किहि काम पराई पौर के।
मोती जर-बर जाहुन लीजै और के।
परिहरिये वाजिन्द न छूवै माथ को।
हरि हॉ पाहन नीको वीर नाथ के हाथ को । भक्तिकालीन काव्य में नारी पृ०-६०

[2] पतिव्रता के पीव बिन, पुरुष न जनम्यॉ कोइ। भक्तिकालीन काव्य में नारी, पृ०-६१

[3] मै तन मन तुम्ह पर वारा
निसदिन लागि चरन की छहियॉ सूनी सेज निहारा। भक्तिकालीन काव्य में नारी, पृ०-६१

[4] पति सनमुख से पतिव्रता । भक्तिकालीन काव्य मे नारी, पृ०-६१

[5] धनि ओई नारि पिया संगि राती।
सोइ सुहागिनी कुल नहीं जाती ।। भक्तिकालीन काव्य मे नारी, पृ०-६१

[6] दादूदयाल की बानी पृ०-१७०

संतों का आदर्श संसार के मध्य निर्लिप्त एवं अनासक्त भाव से रहना है। इसी अनासक्ति का संबल लेकर सन्तों ने गृहस्थ जीवन में मुक्ति पा ली।[1]

(ग) संतों की नारी निन्दा के कारण

मध्ययुग सामाजिक जीवन में संक्रान्ति का काल है। मध्ययुग की सामाजिक दशा का चित्रण सन्त काव्य में बहुल ही विशाद रूप में मिलता है। तत्कालीन शासकों के अत्याचारों, दमन, आर्थिक, राजनैतिक कारणो का प्रभाव सन्तों की वाणी में परिलक्षित होता है। सन्त काव्य का गहराई से विश्लेषण करने पर उसकी दो मूलभूत विशेषताओं का पता चलता है।

१. सतगुरु की प्रशंसा

२. नारी निन्दा

सतगुरु की प्रशंसा तो समझ मे आती है, क्योंकि आध्यात्मिक उन्नति एवं तत्पश्चात मोक्ष प्राप्ति की स्थिति तक सतगुरु ही पहुँचाता है, लेकिन संतो द्वारा की गई नारी निन्दा के कारण वस्तुतः क्या है, यह विवेचना की वस्तु है। कुछ विद्वान तो इस मत के हैं कि संतों के द्वारा की गई नारी निन्दा नारी की निन्दा नहीं, अपितु मूढ़ता एवं काम भावना की निन्दा है (वास्तव में कहीं-कहीं नारी और काम भावना एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुये है।) और इस प्रकार सन्त काव्य में प्रयुक्त नारी निन्दा प्रतीकात्मक है। इस संबंध में डा० गजानन

---

[1] मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में नारी भावना –पृ०–८०

शर्मा का मत दृष्टव्य है–"समस्त सन्त साहित्य में नारी को आत्मा के प्रतीक रूप में प्रयुक्त किया गया है, स्वयं "नारी" अभिधेय के रूप में नहीं। संतो की "नारी" अथवा "नारी" शब्द वास्तविक जगत की नारी नहीं थी। उनके द्वारा अंकित "नारीत्व" में "आत्मात्व" का आरोपण था। वह "नारी" सामाजिक नारी नहीं थी, और न हो सकती थी। उनसे तत्कालीन नारी की वास्तविक स्थिति का सहसा बोध नही हो सकता।[1]

लेकिन नारी के प्रति जिन अभिधानों का प्रयोग सन्त कवियों ने किया है, उसे इस मंतव्य से ढका नहीं जा सकता है। संत कवि उसे नागिन, कुतिया, बाघिन, मार्जारी, पैनीछुरी, राक्षसी, डाकिनी, विष की खान, विषफल, विष बेल, नरक का कुँआ, कालस्वरूपिनी, अग्नि की जवाला, एवं नरक का द्वार कहने से नहीं चूके है। ये अभिधान प्रतीकात्मक तो हरगिज नहीं कहे जा सकते है। सन्त कवियों का दृष्टिकोण तो तभी समझ में आ जाता है, जब सुन्दरदास नारी शरी को सघन वन कहते है, जिसमें नर का भूलना स्वाभाविक है। उस नारी की संरचना नरव से शिख तक मलिनता पूर्ण है और पलटू साहब को तो अस्सी वर्ष की बुढ़िया का भी विश्वास नहीं है। महात्मा कबीर तो नारी जाति के प्रति इतने सशंकित हैं कि वे नर को अपनी माता के पास भी बैठने से मना करते हैं।

इस संबंध में डा० अम्बाशंकर नागर का मत बहुत ही संगत प्रतीत होता है उनका मत है कि, "सन्तकाव्य के सम्वादी स्वरों के बीच एक विवादी स्वर नारी निन्दा का भी है, जिसे नकारा नहीं जा सकता है।[2] डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल

---

[1] भक्तिकालीन काव्य में नारी , पृ०-३७

[2] सन्तकाव्य में नारी पृ०-३७२

सन्तों की नारी विषयक धारणा को विश्लेषित करते हुये कहते हैं कि, दुख की बात है कि स्त्रियों में इन लोगों ने केवल भोले भाव को ही देखा, उनके आध्यात्मिक आदर्श की ओर से इन सन्तों ने आँखे मूँद ली है, जिसे उन्होंने उस शाश्वत प्रेमी की भार्यायें बनकर अपनाने का विचार किया है।[1] डा० उषा पाण्डेय सन्तों की नारी के प्रति अवधारणा को निरूपित करती हुई कहती हैं कि, "इन सन्तों ने नारी के काम जनित वासनात्मक स्वरूप को घृणास्पद एवं गर्हित बताया। उन्होंने काम मात्र को घृणित बताया और पुरुष और नारी दोनों को ही एक दूसरे के लिये अकल्याण कारी और बंधन स्वरूप माना है।[2] जैसा कि सन्त दादूदयाल का कथन है-

नारी वैरणि पुरुष की, पुरुषा वैरी नारि ।
अन्तकाल दून्यू पचिमुए, कछु न आया हाथ ।।[3]

डा० बड़थ्वाल एवं डा० उषा पाण्डेय एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान खींचते है, वह यह है कि सन्त जन स्त्रियों को भीइस पारमार्थगामी मत में प्रवेश देते है, इस कारण स्त्रियों को इन सन्तों का ऋणी होना चाहिये। अनेक सन्तों ने स्त्रियों को भी अपनी शिष्य मंडली में स्थान दिया। संत दादू की अनेक स्त्री शिष्यायें थी। संत चरणदास की तो दोनों शिष्याये केवल चरणदासी सम्प्रदाय में ही नहीं, प्रत्युत् समस्त निर्गुण पन्थ के आदर्श रत्नों में हैं।

डा० बड़थ्वाल सन्त काव्य में नारी निन्दा को प्रतीकात्मक मानते है, और इसका स्पष्टीकरण करते हुये कहते है कि "इन कवियों की कविताओं में एकमात्र

---

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय
2. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी भावना
3. दादूदयाल की बानी पृ०-१७२

पुरुष परमात्मा है और अन्य सभी उसकी पत्नियॉ है। उनका लक्ष्य सदा नियमित एवं संयमित जीवन का रहा है। आगे चलकर जब काव्य में मुगल दरबारों की विलासिता की प्रतिध्वनि सुन पड़ने लगी और हिन्दू सामन्तों के यहॉ भी उनके अनुकरणों की होड़ लगने लगी, तथा स्त्रियों की चर्चा (नख-शिखकी) प्रतिदिन का कार्य बन गई तो सन्तों ने इसके विरूद्ध सिर ऊँचा किया।[1] डा० बड़थ्वाल इस मत के हैं कि सामाजिक परिस्थितियों के कारण सन्तों ने नारी निन्दा की है। डा० गजानन शर्मा भी सन्तों द्वारा की गई नारी निन्दा प्रतीकात्मक मानते है, "यह सत्य है कि सन्तों ने नारी शब्द का ग्रहण वासना के प्रतीकार्थ में किया है और उनके वास्तविक मन्तव्य को जानने के लिये "नारी" का यही अर्थ लगाना हमारे लिये अनिवार्य भी है।[2] सन्त नारी शब्द की जगह नर शब्द का प्रयोग भी तो कर सकते थे। इस तथ्य के संदर्भ में डा० गजानन शर्मा का विश्लेषण सन्तों के एकांगी दृष्टिकोण को व्यक्त करने वाला है," किन्तु इतना सब होते हुये भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि सन्तों ने इस विषय को मनोवैज्ञानिक गहराई न देकर ऊपरी-ऊपरी अभिव्यक्ति दी। वे चाहते तो "नर" शब्द को भी वासना के अर्थ में ग्रहण कर सकते थे। वासना की प्रवृत्ति जैसी नारी में है, वैसी ही नर मे भी तो है। नारी के प्रेरकत्व को तो उन्होंने देखा, नर के प्रेरितत्व को देखा ही नही। उन्होंने परस्पर आकर्षण के जैवकीय सत्य की घारे उपेक्षा की। यदि अपर लिंग (Other sex) को घृणास्पद सिद्ध करके किसी में ठोंक पीट कर वासना के प्रति जुगुप्सा जगायी जा सकती है, तो यह भी उतना ही सत्य है कि स्वयं अपने ही दोषों को देखकर और समझकर मनुष्य और भी दृढ़ता के साथ सत्पथ की

---

[1] हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय पृ०-३७२

[2] भक्तिकालीन काव्य में नारी, पृ०-६५

ओर उन्मुख होता है।[1] यह तो वास्तविकता है ही कि सन्तो ने अपनी वाणी से नारी की मर्यादा को बहुत हानि पहुँचायी है।

निर्गुण सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी जी अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ, "उत्तरी भारत की संत परम्परा" मे सन्तो के द्वारा की गई नारी निन्दा का मूल कारण वज्रयानियों की व्यभिचार वृत्ति को माना। वज्रयानियों की व्यभिचार प्रवृत्ति के कारण जब समाज में अत्यधिक विषमता बढ गई तब सन्तों ने नारी निन्दा के द्वारा कामाचारों एवं व्यभिचारों को रोकने का स्तुत्य प्रयास किया।[2] वज्रयान की साधना करने वाली प्रत्येक साधक के लिये एक महामुद्रा के सम्पर्क में रहना भी परम आवश्यक समझा जाने लगा था। वज्रयानी साधक किसी निम्न कुल मे उत्पन्न सुन्दरी स्त्री को चुनकर गुरु की आज्ञानुसार उसे अपनी महामुद्रा बना लेता था। उस साधक की साधना उस महामुद्रा के साथ एकात्म भाव से चलती थी। महामुद्रा और वज्रयानी साधक एक दूसरे की मनोवृत्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास करते थे, और इस सम्प्रदाय के अनुभूत सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जाने लगा कि कठोर एव कष्टसाध्य नियमों के साथ तपश्चर्या करने से भी जितनी शीघ्रता से सिद्धि प्राप्त होने की संभावना नहीं रहती थी, उससे शीघ्र महामुद्रा के साथ साधक के कामोपभोगों से हो जाया करती थी। वज्रयानी आचार्यों ने महामुद्रा के बारे में कहा हे कि उसे चाण्डाल कुल की या डोमिन होना चाहिये और वह जिनती ही घृणित जाति की होगी, सफलता उतनी ही शीघ्रता से होगी—

---

[1] भक्तिकालीन काव्य मे नारी, पृ०-६६

[2] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ०-३६

चाण्डाल कुल सम्भूता, डोम्बिका वा विशेषतः।
जुगुप्सितं कुलोत्पन्ना सेवयन् सिद्धिमाप्नुयात्॥
स्त्रीन्द्रिय यथा पदम् वज्रं पुसेन्द्रियं तथा॥[1]

ऐसे अमान्यकर एवं हानिकारक साधना पन्थ जिस सामाज में प्रचलित हों, और स्त्रियाँ जिस साधना मार्ग में साधन रूप में प्रयुक्त की जाती हों, वह स्त्रियाँ भी साधारण न होकर विशेष वर्ग समूह की हो, और वह वर्ग समूह भी दीर्घकाल से अश्पृश्यता, अशिक्षा, दरिद्रता के दलदल में फँसा हो तो उस काल में सामान्य स्त्रियों की दशा अपने आप स्पष्ट हो जाती है। वज्रयानी साधक अपनी इस एकान्तिक साधना (महामुद्रा के साथ) में अनेक दुर्व्यसनो में भी प्रवृत्त हो जाया करते थे, उनकी यह विशेष साधना पद्धति और उसमे दुर्व्यसनों में प्रवृत्त होने की अनिवार्यता इनका दुष्परिणाम अंततः समाज को ही भुगतना पडता था और इस तरह अगर चतुर्वेदी जी के मंतानुसार कहें तो, "ये सारे उपकरण अनधिकारी साधको के लिये व्यभिचार परक आदेश बन गये और इस साधना का वास्तविक रहस्य क्रमशः विस्मृत हो गया।"[2] इस प्रकार हिन्दू धर्म एवं बौद्धधर्म के इतिहास में यह समय अव्यवस्थिति के कारण बहुत विषम हो गया था, और इस समस्यामूलक दशा को संभाल कर किसी सर्वजनानुमोदित श्रेयस्कर मार्ग का निकालना अत्यन्त दुष्कर कार्य हो गया था। फिर भी कई सुधारक सम्प्रदायों ने इस दिशा मे सफल होने की चेष्टा की।[3]

---

[1] सत काव्य मे नारी से उद्घृत पृ०-१६४
[2] उत्तरी भारत की सत परम्परा पृ०-३६
[3] उत्तरी भारत की सत परम्परा पृ०-३६

डा० सिद्धि नाथ तिवारी ने सन्तों के द्वारा की गई नारी निन्दा को सिद्धों की व्यभिचार भावना दूर करने का कारण बताया। उनके अनुसार जब बौद्ध धर्म का पतन हो गया तो साधकों ने यह सोचा कि कहीं ऐसा न हो कि "माया मिले न राम"। अतः साधक कामिनियों के गुदगुदे स्पर्श से अपनी थकान मिटाने लगे। भैरवी चक्र एव त्रिपुर सुन्दरी का अनुष्ठान किया जाने लगा। निर्वाण के लिये प्रज्ञा-पारमिता का उपभोग अनिवार्य हो गया। चूँकि प्रज्ञा का निवास पृथ्वी तल की प्रत्येक स्त्री में है, अत. स्त्रियो का भोग बिना किसी संकोच और बिना किसी भेद के करना चाहिये। यह भावना बलवती हो उठी कि स्त्री संसर्ग से ही साधक निर्वाण प्राप्त कर सकता है।[1] डा० तिवारी के अनुसार, "प्रेम में लीन होकर श्रेय की साधना करना उसी प्रकार असम्भव है, जैसे मदिरापान करके मत्त नहीं होना। अत· योगियो ने नारी को सारे अनर्थों की जड मान कर उसकी भर्त्सना की। गोरखनाथ एवं अन्य नाथपन्थी साधुओं के द्वारा की गई नारी निन्दा का भी शायद यही कारण है।

डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित मध्यकालीन सामाजिक दशा को नारी निन्दा के लिये उत्तरदायी ठहराते है, "मध्ययुग में नारी की दशा अत्यन्त हीन थी। उस समय अन्य वस्तुओ के सदृश नारी भी सम्पत्ति समझी जाती थी, उसे केवल भोग की सामग्री समझा जाता था। सुन्दर नारियो के लिये विकट युद्धो का आयोजन होता था। इसी कारण परदे तथा बालविवाह की प्रथाये चल पडी। नारी का कामुक रूप ही मध्ययुग मे देखा जाता था। इसी कारण उस समय के संत कवियों ने इन्द्रियों को जीतने की प्रेरणा दी। कर्म एव वचन मे सामञ्जस्य किया।

---

1. निर्गुण काव्य दर्शन पृ०-३२
2. निर्गुण काव्य दर्शन पृ०-५१

जगत की क्षणभंगुरता की ओर जनता का ध्यान दिलाते हुये मुक्ति का सन्देश दिया।[1] संन्तो की नारी के प्रति भावना अच्छी नहीं है, किन्तु वे उसके उसी रूप को हेय समझते है, जो हमें माया की ओर अधिकाधिक आकृष्ट करता रहे।[2]

डा० आशा गुप्ता "सगुण एव निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन" मे संतों की नारी निन्दा का कारण पुरुष का नारी के प्रति सहज आकर्षण मानती है, उनके अनुसार स्त्री पुरुष को भक्ति मुक्ति और ज्ञान के मार्ग में कभी भी प्रवेश नहीं क़रने देती। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि यह तथ्य जानते हुये भी पुरुष नारी के प्रेम से बच नहीं पाता उसी को अपना काम्य समझता है।[3] अतः संत कवियों ने कनक की निन्दा करते हुये कामिनी की भी बराबर निन्दा की है।[4]

डा० गजागन शर्मा नारी को गार्हस्थिक समस्याओं से घिरी एवं परिवार वृद्धि का मूल कारण मानते हुये संतों की नारी विषयक मान्यता को विश्लेषित करते हुये लिखते है कि "नारी माया जाल में फँसाने वाली मानी गई है, क्योंकि उसी से परिवार की वृद्धि होती है। वह पुरुष की सहज स्वच्छन्द वृत्ति पर रोक लगाती है। घुमक्कड़, फक्कड़ और मनमौजी लोग ही जब नारी को इस प्रकार निन्दनीय ठहरा देते हैं तो सन्त जन जिन्हे परमात्मा से मिलन की लगन लगी हुई भी और जिनका मन-पंछी प्रत्येक क्षण विद्युद्वेग से उड कर प्रिय के समीप पहुँच जाने की तीव्र अभिलाषा रखता था, क्यों न नारी को हेय समझते, जो सदा

---

[1] हिन्दी सन्त साहित्य पृ०-१५

[2] सुन्दरदर्शन- सत काव्य मे नारी से उद्धृत पृ०-१६४

[3] सगुण एव निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन पृ०-१३२

[4] सगुण एव निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन पृ०-१३२

बाल बच्चों एवं नोन-तेल-लकड़ी की समस्याओं का ही रोना रोती रहती थी, और इस प्रकार परम ज्योति से सन्तों का मन विकर्षित करने के प्रयत्न में तत्पर रहती थी।[1] ये सन्त जन (कुछ को अपवाद छोडकर) माता व बहन की निन्दा से स्वयं को बचा ले गये, अब बच रही केवल पत्नी जिस पर तत्कालीन जन अपनी परिवार वृद्धीकरण की नीति पर बिना नियन्त्रण किये हुये, नित्य वर्तमान गृहस्थी का भार डालते चले जा रहे थे, जब वह इस बोझ से कराह उठती, तो वे उसे पापिनी, माया आदि की दार्शनिक गालियॉ सुना दिया करते थे। लोक मे निकम्में, निठल्ले निखट्टे आदि संज्ञायें पाने वाले ये लोग अपनी हीन भावना से उद्धार पाने के लिये नारियों पर ही अपना दोष मढ़ने लगे।[2]

डा० उषा पाण्डेय सहजयानियो एवं वज्रयानियों की नारी उपासना को उसकी पतन शीलता के लिय उत्तरदायी मानती है, *"सामान्यतः समस्त सन्त कवियो ने नारी के कामिनी रूप की निन्दा एवं भर्त्सना की है। उसे घृणित, भयप्रद, हानिकारक, अभिशाप पूर्ण बतलाया है। ये सन्त कवि सहजयानियों एवं* वज्रयानियों की नारी उपासना देख चुके थे, उसका वीभत्सरूप देखकर उन्हें नारी की ओर से विरक्ति एवं ग्लानि होना स्वाभाविक ही थी। उन्होंने देखा कि योग एवं विराग का प्रथम सोपान इन्द्रिय निग्रह ही है, जबकि लोक एवं समाज की नैतिकता शिथिल हो गई है। नारी समाज की भोग लिप्सा का साधन मात्र है। इसी बिन्दु से सुन्दर दास ने नारी की सुन्दरता का वर्णन करने वाले काव्य को समाज के लिये बीमार को मिठाई के समान घातक बतलाया है।

---

[1] भक्तिकालीन काव्य में नारी पृ०-४२

[2] भक्तिकालीन काव्य मे नारी पृ०-४६

डा० रामखेलावन पाण्डेय के अनुसार कर्कशा भार्याओं के दुर्व्यवहार से सन्यासी बनने के कारण कालान्तर में वे उसकी निन्दा किया करते थे। डा० रामस्वरूप नारी निन्दा का कारण सन्त काव्य को पुरुषों द्वारा रचित होना मानते है, उनके अनुसार, अधिकतर सन्तकाव्य पुरुष प्रणीत है, स्त्री रचित नहीं कादचित यही कारण है कि सन्त काव्य में स्त्रियों को पानी पी-पीकर कोसा गया है, परन्तु कहीं पर पुरुषों की निन्दा दृष्टिगोचर नहीं होती। सहजोबाई और दयाबाई स्त्रियाँ थी, किन्तु पुरुष चरणदास की शिष्यायें होने के कारण उन्हें पुरुषों के विरूद्ध कुछ लिखने का साहस नहीं हुआ।

डा० कृष्णा गोस्वामी ने अपने ग्रंथ ''संत काव्य में नारी'' में नारी निन्दा के बारह कारणों की चर्चा की है, जो निम्नांकित है।

१. पारम्परिक

२. सामाजिक

३. धार्मिक

४. सांस्कृतिक

५. आर्थिक

६. प्रतिक्रियात्मक

७. राजनीतिक

८. आध्यात्मिक

९ मनोवैज्ञानिक

१०. प्रतीकात्मक

११ नैतिक

१२. वैयक्तिक

इस द्वादश कारणों के अन्तर्गत विदुषी लेखिका ने अत्यन्त गहराई तक जाकर नारी निन्दा के कारणों की गवेषणा की है। नारी निन्दा का पारम्परिक कारण बतलाते हुये उनका कथन है कि, जब कोई परम्परा चल पड़ती है तो परवर्ती चाहे-अनचाहे उसका अनुकरण करने लगते है। सन्तकाल के प्रारम्भ होने से पूर्व संस्कृत, प्राकृत तथा देश - भाषाओं के नीति - काव्य में पति प्रशंसा एंव नारी निन्दा की एक व्यापक परम्परा चल पडी भी जिसका प्रभाव सन्तकाव्य पर भी पड़ा।[1]

सामाजिक कारण के सन्दर्भ में उनका मत है कि सन्तकाव्य में व्यक्त नारी निन्दा के लिये तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियॉ भी उत्तरदायी है। जैसा समाज होगा वैसा ही साहित्य भी होगा, क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण है । उसमें समाज की अच्छाइयॉ और बुराइयाँ प्रतिबिम्बित होती हैं मध्यकाल में विषेशकर मुसलमानों के आकमण के कारण देश में अराजकता फैल गई भी। नारी का रक्षण उन दिनों कठिन कार्य हो गया था। न केवल आकमण कारी तथा शासक नारी के लिये आतंक का कारण थें, अपितु देश के लोग भी उस अराजकता की स्थिति में नारी के लिये आतंक का पर्याय थें। नारियों का अपहरण और उनका सतीत्व हरण उन दिनों प्रतिदिन घटने वाली सामान्य बात थी।[2] जब पिता और पति के लिये पुत्री और पत्नी का रक्षण एक विकट समस्या बनी हुई थी, जब विधवाओं से छुटकारा पाने के लिये सती प्रथा के नाम पर उन्हें जबरदस्ती आग में जला दिया जाता था, ऐसे समय में सन्तों का यह कर्तव्य हो गया था कि वे समाज को कंचन और कामिनी से विरत करें और एक

---

[1] सतकाव्य मे नारी पृ०-१६८

[2] सन्तकाव्य में नारी पृ०-१७०

पत्नीव्रत तथा एक प्रतिव्रत का आदर्श समाज में स्थापित करें उन परिस्थितियों में सन्तो ने नारी के संबंध में जो कुछ कहा है यद्यपि वह कटु है, तथापि क्षम्य है क्योंकि उन्होनें नारी की सुरक्षा को ध्यान में रखकर ही कामिनी भी निन्दा एंव पतिव्रता की प्रशंसा की थी।[1]

नारी निन्दा के मनोवैज्ञानिक कारण की विवेचना करते हुये डा० कृष्णा गोस्वामी ने कहा है कि निन्दा और घृणा दोनों ही असफल मन की प्रतिक्रियायें हैं। वस्तुस्थिति की दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता हैं कि असफलता का केवल यही अर्थ है कि रुकावट के विरूद्ध प्रयास करने पर रुकावट अधिक बल्वती सिद्ध हुई हैं। सन्तो का नारी से इसलिये संघर्ष था कि वह उनके अध्यात्म पथ की बाधा थी, रुकावट थी। उनका और नारी का संघर्ष मनोविज्ञान की भाषा मे एक धनात्मक और एक ऋणात्मक प्रेरक संघर्ष था। वे वांछित लक्ष्य की और बढ़ना चाहते थे, किन्तु नारी रुकावट बनकर उन्हें भौतिकता की और पीछे धकेलती जाती थी। इसी संवेगात्मक प्रकिया का दर्शन नारी पर दोषारोपण करने की प्रवृत्ति के रूप में सन्त काव्य में प्राप्त होता है।[2] निन्दक प्रायः हीन भावना से ग्रसित होते है। लघुता ग्रन्थि पीड़ा ही निन्दा में अभिव्यक्त होती हैं जिस नारी से भागकर घर संसार को छोडकर कुछ संत रमते राम बन बैठे थे, वह नारी घर छोड़ने पर भी उनपर छाई हुई थी, वे बाह्य दृष्टि से उससे मुक्त हुये थे, किन्तु उनका मन सम्भवतः नारी के प्रभाव से मुक्त नही हो सका था। वे

---

[1] वही पृ०-५७२

[2] सन्तकाव्य मे नारी पृ०-१८०

उस नारी से दूररहकर भी उससे आक्रान्त थे। नारी निन्दा मन पर छाई हुई इसी नारी मुक्ति का प्रयास प्रतीत होती है।"[1]

डा० शैल कुमारी ने "आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी भावना में सन्तों की नारी निन्दा के तीन कारण बताये है।

(१) जब सन्यास का आदर्श संसार त्याग ही हो गया तो एक स्त्री, जो संसार की सहस्त्रों समस्याओं को लिये हुये उसमें बाधा स्वरूप है, अनादर की दृष्टि से देखी जाने लगी।

(२) सन्तों की साधना..प्रेम की अपेक्षा ज्ञान की साधना भी,जिसमें नारी बाधक भी अतः सन्तों ने नारी की निन्दा की है।

(३) वज्रयानियों के नारी संबंधी दृष्टिकोण के अनुसार धार्मिकता और नैनिकता की जगह अनाचार और दुराचार बढ़ रहा था, अतः सभी सन्तो ने नारी से दूर रहने का अपने साहित्य में उपदेश दिया।[2]

सन्तों की नारी विषयक धारणा अनेक कारणों पर आधारित है, किसी एक कारण पर यह धारणा अवलम्बित नही है। मध्ययुग मुगल बादशाहों का युग है, यह वह काल है जब भारतीय विशेषकर हिन्दू जनता मुस्लिम आकमणों से आकान्त थी, दूसरे दर्जे की नागरिक थी। उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय थीं। सर्वत्र गरीबी, भुखमरी और दुर्व्यवस्था फैली थी। तत्कालील सामान्य मनुष्य की

---

[1] वही पृ०-१८०

[2] सन्तकाव्य हिन्दी काव्य मे नारी भावना पृ०- ३

वास्तविक स्थिति का खाका यदि तुलसीदास जी के शब्दों में खीचें तो वस्तुस्थिति अधिक स्पष्ट हो जायेगी-

> खेती न किसान को, भिखारी को न भीख कलि।
> बनिक को बनिज न, चाकर को चाकरी।।
> जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोच बस।
> कहैं एक एकन सों, कहाँ जाई का करी।।[1]

यह कहाँ जाने और क्या करने की जो किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थिति है, इससे उस काल का लगभग हर प्राणी गुजर रहा था। जब सामाजिक व्यक्ति, गृहस्थ व्यक्ति के लिये कोई व्यवसाय, चाकरी, खेती, संभव नहीं थी, तो संतों की क्या बात जो निस्पृह, निर्लोभी, एकमात्र अपने प्रिय की आराधना में लीन रहने वाले थे। ऐसी विषम आर्थिक राजनैतिक स्थिति में जब तमाम समस्यायें सामने हो, जिनका समाधान असम्भव हो, और नैतिक मानदण्डो के कारण ये सन्त अपनी झुँझलाहट अपनी माता व बहन पर न उतार पाते हो, (यद्यपि सन्त काव्य में नारी निन्दा के साथ ही परिवार निन्दा भी मिलती है, नारी के सामान ही परिवार भी उनकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक था) तो एकमात्र पत्नी ही बचती थी, जिसे समस्त समस्याओं का जड़ मानते हुये सन्त जन अपनी वाणी को विराम देते थे। किसी भी कवि की नारी संबंधी अनुरागात्मक या विरागात्मक भावना तत्कालीन राजनैतिक धार्मिक और आर्थिक परिस्थितियों के आधार पर बनती है।[2] जिस काल में समाज धर्म की ओर झुक जाता है, उस काल में वह नारी से घृणा करता है, क्योंकि लगभग सभी धर्मों में नारी को काम का प्रतीक मानकर

---

[1] कवितावली, उत्तरकाण्ड छ० पृ०-९७

[2] आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी भावना डा० शैलकुमारी पृ०-१

आध्यात्मिकता मे बाधा माना गया है, जैसे यूरोप में ईसाई धर्म में नारी को नरक का द्वार सिद्ध कर दिया गया था। भारतीय संस्कृति का इतिहास भी समाज में स्त्रियों की परिवर्तनशील अवस्था का परिचायक है।[1]

भक्तिकालीन काव्य मूलतः धार्मिक काव्य है। धर्म में काम बाधक माना गया है, और कामिनी काम का मूल कारण मानी गयी है। अतः कामिनी का त्याग इस मार्ग पर चलने वाले संतों के लिये एक आवश्यक कार्य था। भारतीय धर्म साधना में जिन दुर्गुणों (क्रोध, मद, काम, मोह, मत्सर,) को दूर करके सद्‌गुणो के संधान की बात की जाती है काम भी उनमें एक दुर्गुण है और निष्काम (केवल काम भावना ही नहीं अपितु समस्त कामनाओ से रहित) होना सबसे बडा गुण है। नारी निन्दा के कारणों में एक प्रमुख कारण भक्ति कालीन काव्य का धार्मिक काव्य होना भी है।

भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरूषार्थ माने गये है, और काम का स्थान धर्म और अर्थ के बाद आता है। भारतीय संस्कृति में कहीं भी काम का निषेध नहीं है, लेकिन एक व्यवस्था है, जीवन को सुसंगठित रूप मे जीने की । वह है वर्णाश्रम धर्म। मध्ययुग में वर्णाश्रम धर्म (आश्रम चतुष्ट्य) का लोप हो गया था। अनेक कारणों से युवावस्था में ही सन्यासी बनने की प्रवृत्ति युवकों में आने लगी, यद्यपि उनका मन पूरी तरह सामाजिक आकर्षणो से विरत नहीं हो पाता था, जिसकी परिणति अत्यन्त कटु स्वरों में नारी निन्दा के रूप में हुई।

---

[1] आधुनिक हिन्दी काव्य मे नारी भावना डा० शैलकुमार पृ०-१

सन्त काव्य का अनुशीलन करने से इतना तो निश्चित ही कहा जा सकता है कि लगभग सभी सन्तों ने, अपवाद स्वरूप कुछ को छोड़कर नारी निन्दा की है। जहाँ तक नारी निन्दा को प्रतीकात्मक मानने की बात है, तो कुछ उक्तियों, पदों में हम उसे प्रतीकात्मक मान सकते है सभी में नहीं। जिस उत्कट प्रेम की अभिव्यक्ति एवं समर्पण की भावना ये सन्त कवि अपने इष्ट के प्रति करना चाहते थे, उसके लिये उन्हें दाम्पत्य भाव से निकटस्थ अन्य कोई सम्बन्ध नहीं लगा। अतः नारी को असत् एवं माया मानते हुये भी नारी हृदय की कोमल भावनाओं का सहारा लेकर इन संतों ने उस परमपिता परमेश्वर की परिणीता बनकर उसके प्रति प्रणय निवेदन किया। जब कबीर सौभाग्यवती स्त्रियो को आमन्त्रित करते है, मंगलगीत गाने के लिये –

दुलहिन गावहु मंगल चार।
हमघरि आये राजा राम भरतार।।[1]

तो अनन्त प्रतीक्षा और विरह की मर्मान्तक पीड़ा को झेलने के पश्चात् आयी हुयी यह मंगल बेला पूर्णतया लौकिक प्रेमी-प्रेमिका के क्रिया कलापों से मेल खाती है। जब कबीर कहते हैं कि–

बहुत दिनन थै प्रीतम पाये।
भाग बड़े घरि बैठे आये।
मंगलचार माहि मन राखौ। राम रसाइन रसना चारवौ।।

---

[1] कबीर ग्रन्थावली राग गौडी पद १ पृ० - १४०

[2] कबीर ग्रन्थावली राग गौड़ी पद २ पृ० १४५

तो विरहिणी आत्मा द्वारा परब्रह्म के साथ आध्यात्मिक अभिसार का रूपक सार्थक सिद्ध होता है।

ये सन्त कवि ब्रह्म को ही एकमात्र पुरुष मानते है और सभी जीवात्मायें उसकी पत्नियाँ है, जैसा कि दादू ने कहा है कि–

पुरषि हमारा एक है, हम नारी बहु अंग।
जै जै जैसी ताहि सौ, षेलैं तिसही रंग।।[1]
हम सब नारी एक भरतार, सब कोई तन करै सिंगार।
घरि घरि अपणे सेज सँवारै, कंत पियारे पंथ निहारै।।
आरति अपणै पिव कौ ध्यावे, मिलै नाह कब अग लगावै।
अति आतुर ये खोजत डोलै, बानि परी वियोगनि बोलै।
हम सब नारी दादू दीन, देइ सुहाग काहू संग लीना।[2]

दादू यहाँ परब्रह्म को ही पुरुष मानकर कहते है कि उसकी प्रतीक्षा में हम सभी स्त्रियाँ अपनी-अपनी सेज सँवार कर अपने प्रिय की अभिलाषा में लीन है, कि कब वह प्रियतम आये और हमें अपने कण्ठ से लगाये। यहाँ पर दादू सभी जीवात्माओं को दीन नारी कहकर उपमित करते है। लेकिन यही सन्त कवि जब नारी को विष बेल, विषफल, पैनीछुरी, सूली साल, बाघिन नागिन और मार्जारी कहते है और उनकी उपमा सघन वन से देते है, जिसमें प्रविष्ट होने वाले का भूलना स्वाभाविक है तब ये प्रतीकार्थ में बात नहीं करते अपितु पूर्णतया अभिधा शक्ति का सहारा लेते हुये अपनी मनोग्रन्थि खोल देते है।

---

[1] दादू दयाल जी की बानी पृ०-३४ साखी-५७

[2] संत दादू और उनकी वाणी पद ५२ पृ०-४७

यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि सन्त काव्य में प्रयुक्त कुछ शब्द जैसे बाबुल, नैहर, कुँवारी कन्या, बहन, सखियाँ, रमैया की दुलहिन, धनि, विवाह, सास, ननद, ससुर, ससुराल, पिव, खसम, गौना, विरहिणी, पतिव्रता, सती, चुनरी, अंगिया, पनिहारिन, रात, दुलह-दुलहिन, फाग और होली प्रतीकात्मक है। कंचन और कामिनी का प्रयोग भी प्रतीकात्मक है, कनक से तात्पर्य केवल स्वर्ण ही नहीं, अपितु यह समस्त सांसारिक वैभव का प्रतीक है। इसी प्रकार कामिनी शब्द का भी अर्थ मात्र "नारी" नहीं है अपितु "वासना" है, जैसा कि सहजोबाई ने अपने ग्रन्थ "सहज प्रकाश" में लिखा है -

ना सुख दारा सुत महल, ना सुख भूप भए ।
साध सुखी सहजो कहैं, तृष्णा रोग गए ।।[1]

डॉ० गजानन शर्मा का मत इस संदर्भ में अत्यन्त उपयुक्त प्रतीत होता है-

"यदि 'कामिनी' या उसके पर्याय प्रतीक के रूप में एक विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक न बन गये होते तो, सहजो तो नारी प्रवृति के अनुसार "दारा" के स्थान पर पुरुषा ही लिखती"[2] यह वह स्थिति है जब कामिनी ही कामिनी के सम्पर्क का विरोध करते हुये नहीं हिचकिचाती थी।[3] यह आश्चर्य जनक तथ्य है कि भक्ति काल में नारियों ने भी नारी की निन्दा की है। किन्तु यदि हम नारी शब्द को तत्कालीन प्रतीकार्थ मे ग्रहण करें तो इस समस्या का समाधान मिल जाता है। उदाहरणतः सहजो ने कलत्र की निन्दा की है जो वास्तव मे सांसारिकता की निन्दा के लिये है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक

---

1. सहज प्रकाश, वे० प्रे० प्रयाग पृ०-१५ दो० ४१
2. *भक्ति कालीन काव्य में नारी पृ०-६७ डॉ० गजानान शर्मा*
3. कबीर ग्रन्थावली कामी नर कौअग साखी-१३

अभिसार में निमग्न रहने वाले और संसार को निस्सार समझने वाले सन्तों ने ही नहीं अपितु संत कवयित्रियों ने भी नारी को आध्यात्मिक पथ में बाधा माना है। (यहाँ नारी शब्द का अर्थ विषय वासना ही है।) कबीर ने नर और नारी दोनों को ही नरक स्वरूप कहा है-- "नर नारी सब नरक है जब लग देह सकाम" अर्थात जब तक देह में सकाम भाव रहता है तब तक दोनों निन्दनीय हैं। निष्काम ईश्वर के स्मरण से दोनों राम के हो जाते हैं। दादू ने तो "नारी वैरणि पुरुष की, पुरुषा वैरी नारि" कह कर दोनों को एक दूसरे के लिय अकल्याण कारी और बंधन स्वरूप माना है। स्त्रियों में केवल काम भावना ही नहीं है, प्रत्युत वह सद्गुणों से भी युक्त है, और स्वयं भक्ति कालीन साहित्य इसका प्रमाण है। पुरुष भी इस भाव से रहित नहीं है। यह स्मरणीय तथ्य है कि इन संत कवियों ने विषय लोलुपता के कारण पुरुष की नारी से भी अधिक के कारण पुरुष की नारी से भी अधिक निन्दा की है। कबीर ने तो उन पुरुषों को मूर्ख कहा है जो इस वासना पंकिल मार्ग पर चलते हुये हँसते-हँसते नरक गामी हो रहे हैं[1] ऐसे नर अंधे है[2] नर रूपी नाग है।[3] निर्लज्ज हैं[4] गॅवार हैं[5] रामविमुख[6] और ऐसे कुबुद्धि हैं कि उन्हें शिवशंकर भी नहीं समझा सकते हैं। अतः सन्त साहित्य में वास्तविक निन्दा काम वासना की है, जिसने सारे संसार को, यति, मुनि, संन्यासी, देवता, नर, नाग, किन्नर यक्ष, गन्धर्व, पशु-पक्षी सब को अपनी बलिष्ठ भुजाओं मे जकड रखा है, कोई भी प्राणी इससे अछूता नहीं है, और जो भी इसके चंगुल मे फँसा,

---

[1] वही सा० १७ कामी नर कौअग
[2] वही सा० २१ कामी नर कौअग
[3] वही सा० २३ कामी नर कौअग
[4] वही सा० २५ कामी नर कौअग
[5] वही सा० २२ कामी नर कौअग
[6] वही सा० १९ कामी नर कौअग

वह अनेकानेक समस्याओं में उलझता चला गया। अतः चेतनाशील तत्त्व मनुष्य (सन्तो) ने तत्कालीन विषम परिस्थितियों में घिरी नारी को ही समस्त समस्याओं का मूल कारण मानते हुये उसी पर अपनी समस्त दुष्प्रवृत्तियों का आरोपण करते हुये, उसकी स्थिति और भी कष्टकर बना दी। सन्त काव्य में समान्य नारी पग-पग पर घृणित एवं तिरस्कृत मानी गई है। अपनी कामुकता, मोहकता और विषय-वासना-बंधन कारिता के कारण त्याज्य समझी गई है। पुरुष को आध्यात्मिक पथ से विरत करने वाली होने के कारण निन्दा का पात्र समझी गई है। इतना होते हुये भी सन्तों ने नारी के उदात्त, एकनिष्ठ एवं समर्पण भाव से युक्त प्रणय निवेदन को ही उस परमतत्व तक पहुँचने का सोपान बनाया। मध्यकालीन नारी के लिये यह गौरव की बात है कि सन्त-मार्ग में अपनी बंधन कारिता के कारण त्याज्य समझी जाती हुई भी वह अपने अनेक स्त्रियोचित गुणों से साधना के लिये मानक बन गई। सन्तों के द्वारा की गई नारी निन्दा के लिये तत्कालीन परिस्थितियां भी कम उत्तर दायी नहीं हैं। यह नारी निन्दा प्रतीकात्मक एवं अभिधात्मक दोनों है।

—❀—

चतुर्थ अध्याय

प्रमुख अहिन्दी भाषी संत कवयित्रियाँ और उनका योगदान।

ज्ञान उर्वरा भारत भूमि में न केवल पुरुष अपितु स्त्री संतों की भी श्रेष्ठ परम्परा रही हैं। इन स्त्री संतों ने जीवन के वैराग्य पक्ष को अंगीकार करके ज्ञान के सर्वोच्च सोपान तक अपनी उपस्थिति दर्ज की हैं। आळवार-नयनार संतों की अण्डाल से लेकर आधुनिक काल की संत सुववना दासी तक इन स्त्री सन्तों की महान परम्परा रही है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध केवल मध्यकालीन संत कवयित्रियों के विषय मे है, अतः इस अध्याय में हिन्दीत्तर प्रदेश की मध्य कालीन संत कवयित्रियों पर विचार किया गया है ।

(१) लालदेद

सत लालदेद व लल्ला स्त्री संतों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनका समय प्रायः १४वीं शती के अंत में निश्चित किया जाता है।[1] यह वास्तव में आश्चर्य चकित कर देने वाली बात है कि इस काल की कुछ स्त्रियों ने अपने विचारों से साहित्य के विकास एवं समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया, उनमें से एक लल्ला (लालदेद) थीं जो कश्मीर की सिद्ध संत थी।[2] उन्हे भारत के मध्य काल के रामानन्द, कबीर और १५ वीं शती के दूसरे अन्य और परवर्ती शताब्दियो के सुधारकों मे अग्रदूत कहा जाता है।[3] संत लालदेद वा लल्ला के अन्य कई नामों में लल्लेश्वरी तथा लल्ला ''आरिफ'' भी प्रसिद्ध है[4]। इनके माता पिता श्रीनगर, कश्मीर से लगभग ४ मील दक्षिण पूर्व स्थित पांड्रेठन नामक स्थान

---

[1] सर रिचर्ड कारनेट टेम्पल, द वर्ड ऑफ, लल्ला, द प्राफेटेस, इन्ट्रोडक्शन ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया से उद्धृत पृ० ३२६

[2] ग्रेट हिन्दू विमेन इन नार्थ इन्डिया-कालीकिकरदत्त पृ० ३२६

[3] वही

[4] उत्तरी भारत की संतपरम्परा, आ० परशुराम चतुर्वेदी पृ० ९९

के निवासी थे, जो अशोक कालीन कश्मीर की राजधानी भी रह चुका था। इनका जन्म सं० १३९२ में हुआ था जब वहाँ पर उदयानदेव का राज्य था और दिल्ली में मुहम्मद बिन तुगलक अपनी गद्दी पर आसीन था।[1] ये ढेढ वा मेहतर जाति की कही जाती है[2] किन्तु आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ "उत्तरीभारत की संत परम्परा" में उक्त धारणा के विषय में अपना मत व्यक्त करते हुये कहा हैं कि कदाचित् देद शब्द के कारण इन्हे ढेढ़ समझा जाता रहा है। उनके अनुसार "देद शब्द यहाँपर कश्मीरी भाषा के देद्दी शब्द का संक्षिप्त रूप हो सकता है जिसका अर्थ "आयु में बड़ी और पदवी में बडी" हुआ करता है और जो हिन्दी के दीदी शब्द का समानार्थक भी कहा जा सकता है।[3] कम आयु में ही इनका विवाह "पांपर" नामक गॉव में कर दिया गया जहॉ इनकी विमाता सास इन्हें बहुत कष्ट देती थी। आ० परशुराम चतुर्वेदी एक तथ्य का उल्लेख अपने ग्रन्थ "उत्तरीभारत की संत परम्परा" में करते हैं कि "वह इनके भोजन की थाली में सिलबट्टा रखकर ऊपर भात बिखेर दिया करती थी इस कारण बाहर से यथेष्ट दीख पडने पर भी इन्हें भरपेट अन्न नहीं मिल पाता था।" इनके पति का व्यवहार भी इनके प्रति कभी अनुकूल नहीं रहा और यही कारण था कि इन्होंने अपने पारिवारिक जीवन का त्याग करके अवंतीपुर के निवासी शैव सिद्ध "वे" अथवा बाबाश्रीकण्ठ से दीक्षा ग्रहण की। कालीकिंकर दत्त जी के अनुसार लल्ला ने एक कश्मीरी शैव संत को अपना आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक स्वीकार किया और स्वयं शैवागम की एक उत्कट भक्त बनीं। वह एक योगिनी, फकीरनी एव तपस्विनी थी जो यौगिक सिद्धान्तों की शिक्षा में इधर-उधर घूमती थीं।

---

[1] उत्तरी भारत की सत परगपरा पृ० ९४

[2] हिन्दी साहित्य का उद्भव काल डा० वासुदेव सिह पृ० १५८

[3] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ९९

परमतत्व के प्रति अगाध तल्लीनता को ही योग का मुख्य सिद्धान्त मानती थीं। उन्होंने सर्वव्यापी परमतत्व की इच्छा पर मनुष्यों का पूरी तरह से आश्रित होना बतलाया। सैय्यद अली हमदानी और दूसरे अन्य मुस्लिम सन्तों के सम्पर्क के कारण वे कश्मीर के समकालीन सूफी दर्शन से भी प्रभावित प्रतीत होती हैं, जो वास्तव में हिन्दु उपनिषदिक आदर्शवाद की तरह प्रतीत होता है। उनका दृष्टिकोण कट्टरपंथी का नही था अपितु समन्वयात्मक था। वे धार्मिक मतभेदों से दूर रहा करती थीं। इनके बारे में कहा जाता है कि सिद्ध हो जाने पर ये परमहंसों के समान रहने लगी थी, तन्मय होकर नृत्य करने लगती थीं एवं कभी-कभी वस्त्रों का भी परित्याग कर देती थीं। निन्दा और स्तुति को भगवान कृष्ण द्वारा गीता के बारहवें अध्याय में कहे गये वाक्य "तुल्यनिन्दा स्तुतिर्मौनी" के अनुसार समकक्ष मानती थीं। इस संदर्भ में आ० परशुराम चतुर्वेदी जी ने एक घटना का उल्लेख किया है।" कहते हैं कि एक बार किसी बजाज ने इन्हें पहनने के लिये दो बराबर कपड़े के टुकड़े दिये जिन्हें ये धारण करने लगी, परन्तु अपने चारों ओर लगी रहने वाली भीड़ की प्रत्येक गाली के अनुसार उनमें से एक में गॉठे देना प्रारम्भ कर दिया तथा उसी प्रकार उसके अभिनंदनों के अनुसार भी दूसरे में गॉठे लगा दी। अंत में जब दोनों को तौला कर देखा तो उन्हें तौल में बराबर पाकर इन्होने अपने प्रति निन्दा तथा स्तुति की ओर और भी उपेक्षा प्रकट की। इनके शिक्षाप्रद उपदेशों से अनेक लोग इनके अनुयायी बन गये इन्होंने "कश्मीर के संरक्षक संत" (Patron Saint of Kasmir) शेख

उत्तरी भारत की सत परम्परा पृ० ९९

ग्रेट हिन्दू विमेन इन नार्थ इन्डिया कालीकिंकर दत्त पृ० ३२६

ग्रेट हिन्दू विमेन इन नार्थ इन्डिया पृ० ३२६

वही

उत्तरी भारत की सत परम्परा पृ० ९९

नूरुद्दीन अथवा नंदा ऋषि को भी बहुत प्रभावित किया। इनकी मृत्यु लगभग ८० वर्ष की आयु में बीज बहाड़ा नामक गॉव में हुई।

रचनायें :

लालदेद की रचनायें कश्मीरी भाषा में है और उन्हे एकत्र करके संग्रहों के रुप में प्रकाशित किया गया है। अत्यन्त कठिन खोज के पश्चात् सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने कुछ विद्वान पंडितों की सहायता से उनकी कविताओं का एक संग्रह तैयार किया जिसमें उनकी कविताओं का मूल तत्व समाहित है। संस्कृत अनुवादों के अन्तर्गत कुछ अन्य पांडुलिपियों की समीक्षा करते हुये डा० एल० डी० बार्नेट के सहयोग से उन्होंने ''लल्ला वाक्यानि'' नामक एक संग्रह तैयार किया जो रायल एशियाटिक सोसाइटी लंदन द्वारा सन् १९२० में प्रकाशित हुआ। प्रकाशित कवितायें लालदेद के अपने समकालीन (कवियों) पर उनकी महत्वपूर्ण भूमिका और आश्चर्यजनक प्रभाव को व्यक्त करती है। ''लल्लेश्वरी वाक्यानि'' नाम से ६० पदों का एक अन्य संग्रह जो श्रीनगर से प्रकाशित हुआ है, में उक्त संग्रह की रचनायें ही ली गई है। एक अन्य सग्रंह ''द वर्ड ऑफ लल्ला, द प्रोफेटेस'' (१९२४) जो कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस से सर रिचर्ड टेम्पुल के अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित है। मूल कश्मीरी में इनका संग्रह ''लालदेद-ए-हिन्द वाक'' के नाम से मिलता है। इनके ६० पदों का एक संग्रह ''लल्लेश्वरी वाक्यानि'' नाम से मिलता है जिसका पद्यानुवाद राजानक भास्कराचार्य ने संस्कृत में किया है।

संत लालदेद ने अपनी रचनाओं में जिस शब्दावली का प्रयोग किया है उससे स्पष्ट होता है कि उन्हें यौगिक क्रियाओं का बहुत अच्छा ज्ञान था और ये साधना की उच्चावस्था अर्थात सिद्धावस्था को प्राप्त योगिनी थीं। साधक के द्वारा

की जाने वाली साधना का परिणाम क्या होता है उस संबंध में लल्ला का कथन है कि "किसी भी उत्तम साधक के द्वारा निरन्तर अभ्यास से दृश्य जगत् का लय हो जाता है तथा वह शून्य स्वरुप को प्राप्त कर लेता है, ऐसी स्थिति में शान्तस्वरूप शून्य मे भी निर्विकार परमेश्वर 'साक्षि' रुप में अवशिष्ट रहता है।"[1] शिव और शक्ति ये ही मूल तत्व हैं, इस संबंध में लल्ला का कथन है कि शिव और शक्ति ही वाणी और मन ईश्वर की दी मुद्रायें, कुल और अकुल हैं, जिनमें यह सारा दृश्य-प्रपञ्च लीन है। यही सर्वोत्कृष्ट उपदेश है।[2] मै "लल्ला" नामवाली साध्वी सर्वव्यापक "शिव" को ढूँढने हेतु दूर तक निकल गई। पर्याप्त भटककर मैंने परमेश्वर को अपने देह रूपी गेह में स्थित पाया,[3] इसके पश्चात् प्राणादि वायुयों के निरोध के द्वारा ज्ञान दीपक को जलाकर मैने स्पष्ट रूप से उस (देह-गेह) में चित् स्वरूप निर्विकार परमेश्वर का साक्षात् कर लिया।[4] उनका आराध्य वह परमतत्त्व हैं जिसे शिव, केशव, जिन वा ब्रम्हा कुछ भी कहा जा

---

[1] अर्व्यांसि सविकास लय वेव्थू,
गगनस्सगुण म्यूंलु रामिच्रटा।
शूंन्य गंलू त अनामय म्वतू,
इहुय् उपदेश दुय् भटा ।।१।। लल्लेश्वरी वाक्यानि पृ०१

[2] वाक् मानस् कव्ल अकव्ल ना अति,
छवि मुद्रि अतिन प्रेवेश्।
रोज़न् शिव शक्त ना अति,
म्वंतुयय् कुँह त सुय् उपदेश्।।२।। वही पृ० २

[3] लल्ल् बवह् द्रायस् लोलरे
छाडान् लुस्तुम् दिन क्योहराथ्।
वुछुग् पण्डित परनिन्गारे,
सुय्म्य रटुमस् नक्षतुर् साथ् ।।३।। वही पृ० २

[4] दमादम् कंरुमस् दमन्हाले,
प्रजल्योम् दीय्त न नेयग् जाथ्।
अंन्द्य्रुम् प्रकाश न्यवर छंट्ग,
गटि रंटुम्त कंरुमस् थफ्।।४।। वही पृ० २

सकता है। उनके अनुसार शिव अथवा केशव अथवा जिन् अथवा ब्रह्मा इनमें से कोई भी (एक) संसार रोगाक्रान्त मुझ अबला की चिकित्सा कर दे।' हे शाक्तिक (शक्ति निष्ठ) नारी! तू सुरादि (सुर + आदि= देवताओं या सुरा + आदि) के साथ ईश्वर की अर्चना कर। यदि तूने उस अक्षर (अक्षय) तत्व को जान लिया तो भी क्या क्षति है अर्थात ऐसा करने में लाभ ही है।' सारा तन्त्र समूह मन्त्र में ही विलीन हो जाता है, नादमूलक मन्त्र चित्त में विलीन हो जाता है चित्त के विलीन होने पर (परमात्म गत हो जाने पर) सारा ही दृश्य (जगत् प्रपञ्च) लीन (विनष्ट) हो जाता है तथा चित् स्वरूप दृष्टा (साक्षी आत्मा) ही शेष रहता है।' हे देव! हे ईश्वर! जो षट्क (काम क्रोधादि विकार) आपके हैं वही तो मेरे पास भी हैं। हाँ मुझमें और आप में भेद केवल यही है कि आप उस षट्क के नियोजक (प्रेरक) है और मैं उसकी नियोज्या (प्रयोग-पात्र-स्वरूपा) हूँ।'

---

[1] शिव वा केशव् जिन् वा,
कमलजनाथ् नाम् दारिन् युस्।
म्य अबलि कांसितन् भवरुज्,
सुह् वा सुह् वा सुह् वा सुह् ।।८। वही पृ० ४

[2] ब्वथ् रैव्या अर्चुन् सखर्
अथि अल् पल् वखुर् ह्यथ्।
युंदुवनय् जानख् परमपद्
अक्षर हिशीश्वर् क्षिशीखर् ह्यथ्।।१०।। वही पृ० ५

[3] तन्त्र् गलि-तांय् मन्त्र् म्यचे,
मन्त्र् गलुतांय् म्वतुय् चित्त्।
चित्त् गलु-तांय् कोंहु तिना कुने,
शून्यस् शून्स्याह् मीलिथ् गौव ।।११।। वही पृ० ५

[4] इमम् षह् च्य तिमय् षह्म्य,
श्यामगला च्यविन् तोठुस् छुह् इहुय् भिन्नाभेद च्य त म्य,
चह् षन् स्वामी ब्वह षेयि मुषिस् ।।१३।।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश जो सृष्टिकर्त्ता, पालनपोषण कर्त्ता एवं संहार कर्त्ता कहे जाते हैं उनके प्रति लालदेद का मन्तव्य कितना विलक्षण है यह देखने योग्य है। वे प्रश्न करती हैं कि यदि शिव अश्वस्वरूप है, विष्णु उनका पृष्ठास्तरण (जीन) है तथा स्वम्भू ब्रह्मा चरण-पीठ (पायदान) हैं, तो उस घोडे का योग्य अश्वारोही कौन है? यह मुझे बतलाइये?[1] उत्तर देती हुई वे स्वयं कहती हैं कि "उस विलक्षण अश्व का आरोही अनाहत (अप्रभावित) आकाशस्वरूप, शून्य (हृदयाकाश) में स्थित तथा निर्विकार है। वह नाम रूप एवं वर्ण से रहित, अजन्मा एवं नाद-बिन्दु-स्वरूप है।[2] माया, ज्ञान एवं संसार ये तीनों जाड्ययुक्त हैं। चित् रूपी सूर्य के समुदित होने पर ये तीनों किसप्रकार जड़ता मुक्त हो जाते हैं इस संदर्भ मे योगिनी लालदेद का कथन है कि "माया में जाड्य (जडता) की स्थिति रहती है उसमें जड (पुञ्जीभूत रूप) है ज्ञान-जल उसका घनस्वरूप (ठोसपन) तथा बर्फीलापन (शैल) है संसारतत्व। इस हृदय मे चित्त रूपी सूर्य के समुदित हो जाने पर सद्यः तीनों (*माया ज्ञान एवं संसार*) जाड्य से मुक्त हो जाते हैं और भासित होने लगता है सर्वप्रधान "शिव" नामक नीर अर्थात नीर-तुल्य निर्मल शिव-तत्व।[3] संत लालदेद शैवागम की उपासिका थीं शैवमत में

---

[1] शिव गुरू तोय् केशव् पलनस्
ब्रह्मा पायहर्यम् व्यलस्यस्।
योगी योगकलि पर्जान्यस्,
कुस् देव अश्ववार् प्यठ् चेडयस् ।। १४ ।।

[2] अनाहत खस्वरूपः शून्यालय्,
यस् नाव ना वर्ण ना रूप ना गोत्र ।
अहनिनाद विन्द त यवोन्,
सूय् अश्ववार प्यध् चेडचस् ।। १५ ।। वही

[3] तूरि सलिल् खंदु तांय् तूरि,
हयम्य त्रिगैय् भिन्ना भिन्न विमर्शा ।
चैतन्य ख् भाति सब् सगे,

शिव ही सर्वप्रधान एवं मूलतत्त्व माने जाते हैं जो कण-कण में व्याप्त हैं, निर्गुण, निराकार एवं निर्विकल्प हैं अत: मूर्तिपूजा एवं सगुण स्वरूप के उपासकों के अर्चनास्थल एवं अर्चनाविग्रह को वे प्रस्तरखण्ड से अधिक नहीं मानती है। वे कहती है कि हे ईश्वर साधक! आपने जो मन्दिर तथा देवता-इन दो पदार्थो को पूजा के लिये पृथक्-पृथक् बनाया है-वस्तुतः वे दोनों पदार्थ प्रस्तर खण्ड से भिन्न नहीं हैं । देव (परमेश्वर) तो अमेय (अपरिमेय, सीमारहित) तथा चित् स्वरूप है, अतः उसकी व्याप्ति (उसके समाने के लिये तदनुकूल ही प्राण एवं चित्त की एकता का विधान करना चाहिये ।[1] निन्दा और स्तुति से विषाद या प्रसन्नता को न प्राप्त कर समरसता की स्थिति पर पहुँच चुकी लालदेद ज्ञान के उस सोपान को प्राप्त कर चुकी है जहॉ इनका कोई अर्थ नहीं रहता उनका कहना है कि "चाहे लोग मेरी निन्दा करें अथवा प्रशंसा करें या विविध सुन्दर पुष्पों से अर्चना करें- पर उक्त क्रियाओं से न तो मैं आनन्द प्राप्त करती हूँ न ही विषाद प्राप्त करती हूँ क्योंकि मैं विशुद्ध ज्ञान (आत्म ज्ञान) रूपी अमृतरस के पान के कारण स्वस्थ या आत्म-स्थ हो चुकी हूँ।[2] सांसारिक जन मेरे लिये सहस्रों अवाच्य (अपशब्द, निन्दावाक्य) कहते रहें पर स्तुति-निन्दा-तटस्थ मेरा मन (उन अवाच्य शब्दों के कारण) मलिनता को नहीं प्राप्त करता है। जैसे स्वच्छ दर्पण

शिवमय् चराचर् जग् पश्या ।। १६ ।। वही पृ०-६

[1] देह बटा देवर बटा,
प्याठ ब्वन छुय् एकवाट् ।
पूज् कस् करख् हूटबटा,
कर् मनस् त पवनस् सगाट् ।। १७ ।। च.६

[2] गाल् गांडिन्यउ बोल् पडिन्यम्,
दंपिन्यम् तिह यस् यिथुरोचे।
सहज कुसुमव् पूज् करिन्यम्,
बव्ह् अमलाम् कस् क्याह् म्यचे ।। २९।। वही पृ०-९

धूलि-राशियों से मलिन नहीं होता है।[1] साधना की सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिये साधक को अपने वातावरण से पूर्णतया तटस्थ एवं निरपेक्ष रहना चाहिये। इसी तथ्य का ज्ञान कराती हुई लालदेद कहती हैं कि हे साधक! अपने में स्थित (आत्मस्थ) रहते हुये तुम सारी उचितानुचित बातें जान कर भी अज्ञवत् स्थित रहो। सब कुछ सुनकर भी तुम्हे कर्णहीन की तरह रहना चाहिये तथा तुम सारी चीजें देखकर भी शीघ्र ही अन्धापन प्राप्त कर लो। श्रेष्ठ विद्वानो ने ईश्वर प्राप्ति हेतु इसी "तत्वाभास" का विवेचन किया है।[2] चित्त वेगवान अश्व है जिस पर विवेक का अंकुश आवश्यक है, चित्त को वश में करने पर ही साधक साधना के पथ पर चल सकता है। सर्वत्र एवं सभी ओर चलने की क्षमता रखने वाला चित-रूपी तुरंग श्रणभर में लाखों योजनों तक जाने वाला है। श्रेष्ठ विद्वान (आत्मवेत्ता) ही विवेक-रूपी लगाम की प्रेरणा से दोनों वायु-पक्षों के निरोध के कारण उक्त तुरंग को पकड सकता है या सम्हाल सकता है[3] (दोनों वायु पक्ष-पूरक एवं रेचक वायु)। साधना के मार्ग में चलने वाले साधकों के लिये मात्र जीवन निर्वाह के लिए ही, भोजन एवं वस्त्र का प्रयोग उचित है इस संबंध मे साधक को राग एवं लालसा से रहित रहना चाहिये। जिसका मन खान-पान या

---

[1] आंसा बोल् पंरिनम् सासा,
ग्यगनि वारा खेद ना ह्ययेे।
यदुवय् शंकर वख्च् आसा,
मकुरिस् स्वासामल् क्याह्प्यये ॥१८॥ वही पृ०-८

[2] मूढव् दीशिध् त पशिथ् लाग्,
जंरू त कंलु श्रवतवोन् जडरूंपि आस् ।
युस् यिय दापिय् तस् तिथु बोल्,
सुय् छुय् तत्वविदस् अभ्यास् ॥२०॥ लाल्लेश्वरी वाक्यानि पृ०-९

[3] चित्त् तुरग् गंगेनि भ्रमवोन्,
निमेष अकि दण्डि योजनालद् ।
चैतन्यवगि थंगि रटिथ् जोन्,

अलंकरण से भी भ्रान्तिहीन है-वही मुक्त है, क्योंकि जो ऋणदाता (उत्तमर्ण) से अथ नहीं लेता है - वह अनृण ही है।' शीत से बचने के लिये ही वस्तुधारण करना चाहिये तथा क्षुधा शान्ति के लिये ही भोजन करना चाहिये तथा मन को विवेकशीलता की ओर ले जाना चाहिये अतः भोगों का अनुचिन्तन नहीं करना चाहिये। आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये शम या दम मूल कारण नहीं हैं अपितु विवेक ही वह कारण है जिससे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है इसी सत्य का साक्षात्कार कराती हुई वे कहती हैं कि "शम (मन शान्ति) आत्म स्वरूप के ज्ञान के कारण नहीं है तथा दम (इन्द्रिय-निग्रह) भी आत्मज्ञान के कारण नहीं है, किन्तु विवेक ही आत्मज्ञान मे परम कारण है जैसे लवण एकमात्र जलस्वरूप हो जाता है उसी तरह आत्मा एव परमात्मा के एकत्व ज्ञान हो जाने पर भी यह पृथकतया ज्ञेय नहीं है।' समस्त जागतिक प्रपञ्च से जब मन दूर हो जाता है और हृदय रूपी दर्पण निर्मल होकर उस परमब्रहम का साक्षात् करने के योग्य हो जाता है तब न तो अहं की सत्ता रह जाती हे न त्वम् की और न इस जागतिक प्रपञ्च की। यहाँ पर लालदेद जगद्गुरू शकराचार्य के उस मन्तव्य के

प्राण् अपान् फुटरिथ् पख्च्च् ।। २६।। वही पृ०-१२

ख्यथ् गॅडिथ् ना शमि मानस्,
भ्रान्त यिमव् त्रांवू तिम् गैय् खंसिथ ।
शास्त्र बूंजु जि यम भंग् कुरू,
सुह् नो पचु तांय् धन्या लूंसिति ।।२६।। लल्लेश्वरी वाक्यानि पृ०-१२

यप तूर् चालि तिम् अम्बर् हर्यात
व्यह यव चालि तिय् आहार् अन्।
चित नृप स्वविचारस् प्यत,
चिता देहस् वान् क्याह् वन् !! २८।! वही [illegible]

सहजस् शम् त दम् नो गछे,
इछि प्रावख् मुक्तिद्वार,
सलिलस् लवण् जन् मीलिथ् त गछि
तोति दुय् दुर्लभ् सहज्-विचार् ।।२९।। वही पृ०-१३

सन्निकट हैं जब वे कहते है कि "नाहं न त्वं नायं लोकः तदपि किमर्थं क्रियते शोकः।"[1] इसी बात को लालदेद इस प्रकार कहती हैं कि हृदय रूपी दर्पण के निर्मल हो जाने पर मेरे मन में अपने जनों की प्रत्यभिज्ञा (वास्तविक पहचान) उदित हुई। (क्रमशः निर्मल से निर्मलतर होते हुये हृदय में) मैनें आत्मस्वरूप उस "देव" (परमात्मा) का दर्शन किया तो न अहं की सत्ता रह गई न त्वं की ओर न ही इस मिथ्यात्मक जगत् प्रपञ्च की।[2] मोक्षप्राप्ति के लिये तीर्थों में भटकना आवश्यक नहीं है अपितु मोक्ष तो चित्त की निर्मलता से ही प्राप्त हो सकता है। उनके अनुसार एकमात्र मोक्षप्राप्ति के आकांक्षी सन्यासी जन सदैव प्रयासपूर्वक श्रेष्ठ तीर्थों की ओर प्रयाण करते रहते हैं किन्तु वह मोक्ष तो एकमात्र चित्त (नैर्मल्य) से ही साध्य है– अतः बाह्य तीर्थ स्थलो मे वह मोक्ष उन सन्यासियो को नहीं मिलता है। वस्तुतस्तु अत्यन्त नीला दूर्वास्थल (सहस्रार कमलपीठ) तो पास ही में है। (उसे बाहर ढूढ़ना तो भ्रम, मोह, अज्ञान है।)[3] लालदेद के ही अनुसार कबीर ने भी एक स्थान पर तीर्थभ्रमण को अनावश्यक एवं आडम्बर पूर्व निर्णय माना है।[4] यहाँ पर डा० ग्रियर्सन का मत बहुत ही समीचीन जान पड़ता है, उनके अनुसार लालदेद की अनेक बातों से कबीर भी प्रभावित हुये थे। यद्यपि

---

[1] चर्पट पञ्चजरिका स्तोत्र श्लोक स० १६

[2] गकुरस् जन्मल् चंलुम् गनस्,
अदम्य लंवूम् जंनस् जान्।
सुह् य्यलि ङयूठुमु निश पान स्,
सोरूय् सुय् तोय् ब्बह् नव् केहुँ।। लल्लेश्वरी वाक्यानि।।३१।। पृ०-१४

[3] प्रथंय् तीर्थन् गद्दान सन्यांसि,
ग्वारंनी सुदर्शन मिलु।
चित्ता परिथ् मव् निष्पत् आस्।
देशख् द्रमन् नीलिय्।।३६।। लल्लेश्वरी वाक्यानि पृ०-१६

[4] मोको कहाँ ढूढे रे बन्दे , मै तो तेरे पास मे।
ना मै मन्दिर, ना मै मस्जिद, ना कावा कैलाश मे।

इस बात का कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिला है और न ही इन दोनों संतों के बीच किसी प्रकार के सीधे संबंध का ही पता चला है। लालदेद स्वयं को बेचारी एवं असहाय समझती हुई कहती है कि बराकी (बेचारी, सर्वथा असहाय) मैं लल्लादेवी इस संसार को पाकर (प्रभुकृपा से) सहज निर्मल आत्मज्ञान पा गई। न तो किसी के कारण मैं मर रही हूँ अथवा न ही कोई भी मेरे कारण मर रहा है। मेरे लिये तो मृत देही एव अमृत (जीवित) देही दोनों समान स्वरूप वाले है।'

साधना की सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिये कामादि छ. विकारो का नाश अत्यन्त आवश्यक है। उनके अनुसार मैने इन काम आदि छ. वन समूहों को काटकर ज्ञानमय अमृत रस प्राप्त कर लिया है। प्राणादि वायुयो के निरोध के कारण (मैने) अनुराग पूर्वक प्रकृति एवं मन को जलाकर (शक्तिहीन बनाकर) शिव-तेज प्राप्त कर लिया है।' जिस योग्य साधक ने काम, लोभ तथा अहंकार इन (ब्रह्मज्ञान) मार्ग के चोरों को यत्नपूर्वक पहले ही (ज्ञान-मात्र के पूर्व ही) मार डाला उसी एक साधक ने समस्त भाव समूहो को भस्मवत् परित्यक्त करके ईश्वरीय धाम (लोक या तेज) प्राप्त कर लिया अर्थात् निर्विकार व्यक्ति ही ब्रह्म साक्षात्कार कर सकता है।' हे महेश! देह प्राण, मन आदि छः कोशों पर

' संसारस् आयस् तपसे,
बोधप्रकाश् लंबुम् सहज्।
मर्यम् न कुँह् त मर न कौंसि,
मर नेछ् त लस नेछ।।३४।। वही पृ०-१५

' पह् वन चटिथ् शशिकल् वुजूम
प्रकृथ् हुजूम् पवन सूंतिय्।
लोलंकि नार सूत्य वांलिज्ज् वुजूम्,
शकर लंबुम् तमिय् संती।।२५।। लल्लेश्वरी वाक्यानि पृ० १५

' यांमि लोभ् त मान्मथ् मोरू,

नियन्त्रण करने से भी मै तुम्हें न पाकर (न जानकर) ही चिरकाल से खिन्न रही हूँ। आज समस्त उपाधियों से रहित तथा चित्स्वरूप आप को जानकर मैं विश्रान्त (शान्ति या परमानन्द) को प्राप्त कर पाई हूँ।'

ईश्वर सर्वशक्तिमान है एवं सर्वव्यापी है और उसकी प्राप्ति के लिये सद्गुरु सहायक होता है। इसी तत्व का प्रतिपादन करती हुई लल्ला कहती है कि "जैसे भगवान् सूर्य अपनी किरणों से प्रत्येक स्थल पर अभिन्न रूप से प्रकाश फैलाते हैं और जैसे बादल का जल प्रत्येक गृह में अभिन्न रूप से (एक ही तरह का तथा निष्पक्षतया) गिरता है ठीक उसी तरह जो ईश्वर समस्त संसार के घरों में विराजमान रहता है- कष्ट से प्राप्य उस मगंलमय प्रभु के बारे में सद्गुरु से सुनिये।' हे ईश्वर! आकाश, भूमि, वायु, जल, अग्नि, रात्रि तथा दिन सब कुछ तुम ही हो और उक्त तत्वों से ही उत्पाद्य होने के कारण पुष्प एवं अर्ध्य आदि भी तुम ही हो। अतः मै तुम्हारी पूजा के लिये कुछ भी वस्तु नहीं पा रही हूँ।'

लिगय मांरिथ त लोगुंन दास्।

यंमिय् राहज ईश्वर ग्वोरू,

तमिय् सोरूय व्यन्दुन् स्वार्।।४३।। वही। पृ०-१९

पानस् लांगिथ् रूदुख् म्य चूह्

म्य च्याह् छाडान् लूस्तुमु द्वह।
ज्ञानस् मन्ज् य्यलि डयूठुख म्य च्ह,
म्य च्यत पानस् द्वितुम छ्वह् ।।४४।। वही पृ०-२०

र व मत थलि थलि तांपितन्

तांपितन् उत्तम् देशा।

वरूण गत लोट गर अंचितन्,

शिव छुय क्रंटु चेन तांय उपदश् ।।५३।। लाल्लेश्वरी वाक्यांनि पृ०-२८

गगन चश् भूतल च्य्,
चय् दन् पवन त राथ्।
अर्ध चन्दुन पोष् पांजि चग्,

जिस परमेश्वर की शक्ति (बाल्य काल में) माँ के रूप में दूध देती है (पिलाती है) और यौवन काल मे पत्नी के रूप मे प्रेम क्रीडाये करने वाली हो जाती है तथा अन्त में मृत्यु के रूप में पास आती है-- कष्ट से प्राप्त होने वाले उस मंगलमय प्रभु के बारे में सद्‌गुरु से सुनिये। ऐसे उस परमतत्व परमब्रह्म को प्राप्त करने के लिये तीर्थों में भटकना व्यर्थ है वह तो अन्तःकरण में ही विद्यमान है। आवश्यकता तो बस उसे देखने की है उनके अनुसार उस प्रभु को देखने के लिये मैने श्रेष्ठ तीर्थों की ओर प्रयाण किया और थक गई तदुपरान्त मैं प्रभु के गुणों की कीर्तन गोष्ठियों में बैठ गई। तब भी मैं मानसिक रूप से खिन्न ही रही हूँ। अन्ततः प्रभु चिन्तन के लिये मै अपने अन्त.करण में प्रविष्ट हो चुकी हूँ।' उसके बाद इस अन्तःकरण में मैने विविध आवरणों (अवरोधों) को देखकर जान लिया कि बस यहीं वह परमेश्वर होगा। जब उन आवरणों का भञ्जन करके अन्तःकरण मे प्रविष्ट हुई, तब इस लोक में मै "लल्ला" के नाम से विख्यात हो गई।' उसके दर्शन के लिये किसी प्रपञ्च, उपकरण की आवश्यकता नहीं होती।

चर् छुख सोरुय् त लांगिजिय क्याहू॥४२॥ वही पृ०-१९

सय् मातारूंपी पय दिये,

राय् भार्या रूंपि करि विलास्।

सय् माया-रूंपि जीव हरे,

शिव छुय क्रूंठु तांय चेन् उपदेश॥५४॥ वही पृ०-२५

लल्ल् ब्वह लूछस् छाडान् त ग्वारान्।
हल म्य कंरूमस् रसनि रातिग्।

वुछुन ह्यतुम तारि् डीठिमस् वरन्,
म्य ति कल् गनेय जि जोगुमस् तंतिय॥४८॥ लल्लेश्वरी वाक्यानि पृ०-२२

गल् ब्वन्दि जोलुम्,
जिगर मोरुम्।
त्यलि लल्ल् नाव द्राम,.
य्यलि दंलि् त्राविमस् तंतिय॥४९॥ वही पृ०-२२

अतः हे साधक! अपने शरीर के अन्दर ही आनन्द रस से संस्नात् आनन्दातिरेक से हँसते हुये विविध कार्यों को करते हुए तथा इस शरीर के समक्ष ही विद्यमान आत्मदेव का दर्शन कीजिये। अन्य स्थलों में उसे ढूढ़ने से क्या प्रयोजन।[1] श्रेष्ठ योगियों ने उपदिष्ट किया है कि घर में निवास करना मोक्ष प्राप्ति का कारण नहीं हो सकता अथवा वन में भी निवास करना मोक्ष कारण नहीं हैं अतः अहर्निश अपनी आत्मा के चिन्तन में तल्लीन होकर तुम जिस रूप में हो उसी में स्थित रहो यही सहज स्थिति मोक्ष प्राप्ति का परम उपाय है।[2] ईश्वर की प्राप्ति सहज एवं सर्वसुलभ है इस संबंध में संत लल्ला कहती हैं कि मैं जो भी सहज कार्य करती हूँ– वही ईश्वर पूजा है, जो भी बोलती हूँ वही मन्त्र है तथा जो भी वस्तु योगतः (संयोगतः) हमारे पास आ जाती है– वही वस्तु मेरे लिये इस संसार में तन्त्र है।[3] जिस (ब्रह्मानन्द) सरोवर में सरसों का एक दाना नहीं समा पाता, यह आश्चर्य है कि उसी के जल से जितने भी प्रकार के देहि समूह है वे सभी ठीक से बढ़ते (विकसित) है।[4] स्त्री पुरूष के शाश्वत संबंध के बारे उनका कथन है कि

---

[1] असे प्वन्दे ज्वसे जामे
न्यथय् तीर्थन् स्नान् करे।
वहरि-वहरस नंनुय् आसे,
निश छुय त पर्जान्तन् ॥४६॥ वही पृ०-२१

[2] कन्द्यव गृह त्यंजि कन्द्यव् वनवास्,
यिथुय् छुख त तिथुय् आस्।
मनस् धैर्य रठ सॉपंजख सुवास्।
क्या छुय् मलुन् सूंर तांय सांस्॥५५॥ लल्लेश्वरी वाक्यानि ॖ.२५

[3] यह् यह् कर सुय् अर्चुन,
यह् रसंजि उच्चर्यय् तिय मन्थ्र्।
इय् यथ् लग्यम् देहस् परिचय्,
सुय् परमशिवुन् तन्थ्र्॥५८॥ वही पृ०-२६

[4] यथ् सरि सर्षप फेलु ना व्यचे,
तथ् सरि सकलो पांजि च्यन्।

पुरुष स्त्री (माता) से उत्पन्न होता है और युवावस्था मे वही पुरुष स्त्री में राग भावना खोजता है उनके अनुसार जिस परमेश्वर के द्वारा प्रेरित पुरुष क्लेश विकल मातृ जठर को पीड़ित करके मल संसक्त हो कर उत्पन्न होता है-- तथा सुखप्राप्ति की बुद्धि से वही पुरूष नारी का सदैव अनुगमन करता है, हे साधक! कष्ट से (तप या साधना) प्राप्य उस मगंलमय प्रभु के बारे में सद्गुरु से सुनो।[1] तान्त्रिकों के फैलाये गये ऐन्द्रजालिक सम्मोहनों से साधकों को आगाह करती हुई वे कहती हैं कि किसी ऐन्द्रजालिक या तान्त्रिक व्यक्ति के द्वारा लोक सम्मोहनार्थ तथा धनार्जनार्थ प्रदर्शित किया गया जल स्तम्भन कार्य, अग्नि शीतली करण कार्य तथा उसी भॉति पैरों से ही आकाश में चलना तथैव लकड़ी की बनी धेनु से दूध दुहना सर्वथा असम्भव, असाध्य है। वस्तुतः तो ये सभी कार्यकलाप धूर्तता (कपट या माया) से समुत्थित हैं।[2] उस ईश्वर की आराधना तो दृढ़ भावना के पुष्पों एवं मौन नामक मन्त्र से ही हो जाती है।[3] लालदेद की रचना में यौगिक शब्दावली का प्रयोग प्रचुरता में हुआ है। वे अपने गुरु से कहती हैं कि 'हे

मृग सृगाल् गांण्डि जलहस्ती,
ज्यन् ना ज्यन् तं ततुय प्यन्॥४७॥ वही पृ०-२९

[1] जनम जायेय् रति तांय् कृत्यि्,
कंरिथ उदरस् बहु क्लेशा।
फीरिथ् द्वार् भजनि वांति तंतुमु,
शिव् छुय् क्रुद्ध तांय चेन् उपदेंश् ॥५१॥ वही पृ०-२३

[2] जल् थमुन् हुतवह् त्‌रनावुन्,
उर्ध्व गमन् परिवर्जिथ् चर्यथ् ।
काठधेनि द्वद् श्रमावुन्,
अन्तिह् सकंलु कपट-चर्यथ् ॥३८॥ लल्लेश्वरी वाक्यानि पृ०-९७

[3] मन पशु तांय् यछ् पुशाजी,
भावंकि कुसम् लांगिज्यस् पूजे ।
शशि-रस गंडु दिज्यस् जलधांनी,

गुरुवर! कृपा करकें मुझे इस एक ही ब्रह्म प्राप्ति-कारी उपदेश को दीजिये। हाह् और हूह् ये दोनों भाव-विशेष सूचक शब्द एक ही मुख से एक ही साथ उत्पन्न होते है परन्तु उन दोनो में के प्रथम हाह् उष्ण है और हूह् अतिशीतल! ऐसा क्यों।' 'हाह्' शब्द नाभि से उत्पन्न तथा उदराग्नि से तप्त रहता है, हूह शब्द में द्वादश तत्वों के अन्त में शीतल अन्तः करण से उत्पन्न होता है। हाह् प्राणवायु स्वरूप है और हूह् अपान-वायु-स्वरूप है। मुनियों ने इसीप्रकार सिद्धान्तोपदेश किया है।' साधना के क्रम में साधक एक ऐसी स्थिति में पहुँच जाता है जब उसमें के और साध्य में कोई अन्तर नहीं रह जाता है उस स्थिति का वर्णन लालदेद ने एक श्लोक में किया है। उनके अनुसार जो द्वादश-तत्वो (दस इन्द्रियों + चित्त + अहंकार) के पश्चात् (उनकी वेग शान्ति के बाद) स्वयं ही विनिर्मित सदैव प्रकाशित देव-गृह (ब्रहम स्थान) में स्वयं विराजमान है तथा जो प्राण-सूर्य को सम्यक् प्रेरित करता रहता है - वह कल्याणकारी शिव (ब्रह्मतत्व) ही जिसके लिये आत्मस्वरूप बन चुका है (अनुभूत हो गया है) वह ब्रह्मवेत्ता विद्वान किस अन्य देवता की अर्चना करे?'

छ्वपि मंत्र शंकर वुजे ।।४०।। वही पृ०-१८

' ये ग्वरा परमो ग्वरा,
सद्भाव भाव् त म्यं च्रह्।

जह् जोनि उपनेय् कन्दापुरा,
हुह् कव त्रूनु त हाह् कव तंतू ।।५६।। वही पृ०-२६

' नाभिस्थानस् चित् जलवंजी,
ब्रह्मस्थानयस् शिशिरूनु मुख्
ब्रह्माण्डम् छयय् नद् वहवंजी,

तवय् त्रूनु हूंह् हाह् गौव् तंतु ।।५७।। लल्लेश्वरी वाक्यानि पृ०-२६

' द्वादशान्त-मण्डल् यस् देवस् थंजूय्,

नासिक पवन् अनाहत् रव् ।
सयस् कल्पन् अन्तिह् चंजूय्,

यह संसार नश्वर है, यहाँ की हर वस्तु नश्वर है। जो जन्मा है उसका नाश अवश्यम्भावी है और तत्पश्चात् सबका गंतव्य भी एक ही है, सबको अन्त में उसी तत्व में मिल जाना है जिससे पृथक होकर वे संसार में आये हैं। जीवन की इसी नश्वरता, क्षणभंगुरता एंव जीवन-मृत्यु के शाश्वत संबंध पर लालदेद बहुत ही विचार पूर्ण वाणी से अपनी बात कहती हैं। उनका कथन है कि बृद्धावस्था आ गई अब यह शरीर और अधिक दुर्बल हो गया अतः यहाँ से चलने के लिये निर्णय करना चाहिये। हम लोग जहाँ से आये हैं वही पुनः हमें जाना है। वस्तुतः इस संसार में कोई भी (चर या अचर वस्तु) स्थिर (अनश्वर) नहीं है।' ठीक यही बात कबीर भी अपने एक दोहे में कहते हैं।' वस्तुतः सभी निर्गुण मार्गी एवं योगमार्गी सन्तों की शब्दावली एक जैसी ही होती है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि संत लालदेद एक सिद्ध योगिनी थी। जीवन के सार तत्व को उन्होंने प्राप्त कर लिया था। ब्रह्म एवं जीव जगत के सापेक्ष संबंधों को जान चुकी थीं और उस परमानन्द की स्थिति पर पहुँच चुकी थी जहाँ पहुँच कर और कुछ जानने, समझने एवं प्राप्त करने की इच्छा समाप्त हो जाती है। संत लालदेद के पद पूर्णतया भक्ति रस में डूबे एवं गेय हैं। उन्होने अपने पदों में जिस विषय का प्रयोग किया है वह अत्यन्त गूढ़ है और दर्शन एवं योग के विषय में जानने वाला ही उसके मर्म को समझ सकता है।

पानय् देव् त अर्चुन कस् ॥३५॥ वही पृ०-१६

' अछ़ान् आय् त गछुन् गछ़े,
पकुन् गछ़े दिन क्योह् न राथ्।
योरय् आय् तूरि् गछुन् गछ़े,
केहॅ् न-त कॅह् न- त, केहॅ न - त क्याह् ॥१९॥ पृ०-८

' जलमे कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुम्भ जल[illegible] लहि समाना यह तत कहो गियानी

उनकी भाषा सहज सरल और विषय को सम्यक् रूप में व्यक्त करने में सक्षम है। छंद की दृष्टि से भी उनके पद निर्दोष हैं। ब्रह्मतत्व एवं आत्मतत्त्व का निरूपण वे जिस सहज ढंग से कर देती हैं वह बड़े-बडे ज्ञानियो के लिये भी विरल है। निम्न जाति की होते हुये भी उनकी प्रज्ञा इतना प्रखर, इतनी उर्वर है कि सम्पूर्ण मध्यकाल में उनकी रचनायें उपने आप में अनूठी हैं। निर्गुण ब्रह्म की उपासिका लालदेद शंकराचार्य के वेदान्त और कहीं-कहीं उपनिषदों से भी प्रभावित दिखाई देती हैं। उनकी विशिष्टता इस अर्थ में है कि उत्तर भारत में उन्से पूर्व किसी भी कवि की रचना इतने सुपुष्ट रूप मे परिलक्षित नहीं होती, इस तरह से वे उत्तर भारत की संत परम्परा की प्रारम्भिक कवयित्री सिद्ध होती हैं।

(२) महदायिसा

मराठी साहित्य की प्रथम कवयित्री महादायिसा है। इन्हें महदम्बा, उमाम्बा एवं रूपाई भी कहा जाता है। इनके जन्म और मरण की तिथियाँ अज्ञात हैं। 'नागदेव-स्मृति-ग्रन्थ' से इतना ही ज्ञात होता है कि उनके पूर्वज वामनाचार्य देवगिरि के यादव राजा महादेव राय के यहाँ पुरोहित थे।[1] वामनाचार्य की पत्नी महादायिसा बहुत बुद्धिमान स्त्री थीं एवं धार्मिक ग्रन्थों के प्रणयन मे दक्ष थीं। वे और उनकी पत्नी राजपरिवार के लिये पुरोहित का कार्य करते थे। एक बार अन्य प्रान्तों से कुछ पण्डित शास्त्रार्थ के लिये देवगिरि आये। महदायिसा ने उनके तर्कों का कुशलता पूर्वक खण्डन किया। राजा महादेव इससे बहुत अधिक प्रसन्न हुये और उन्हे पॉच गॉवों की जागीर प्रदान की। कवयित्री महदायिसा, इन महदायिसा की पौत्री कही जाती है।[2] महाराष्ट्र सारस्वत के परिशिष्ट (पृ० ८८५) में डॉ० तुलपुले ने वामनाचार्य का वंशविस्तार इस प्रकार दिया है।[3]
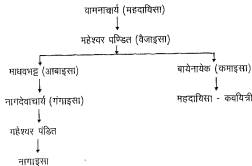
[1] हिन्दी को मराठी संतो की देन डॉ० विनय मोहन शर्मा पृ०-८५
[2] ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र श्रीमती कमला भाई पृ०-३४३
[3] हिन्दी को मराठी संतो की देन से उद्धृत पृ०-८५

ये बहुत कम उम्र में विधवा हो गई थी और पिता के घर रहने के लिये आगई थीं। प्रारम्भ से ही उनके मन-मस्तिष्क का झुकाव धार्मिकता की ओर था। महानुभाव मत के संस्थापक चक्रधर महाराष्ट्र आये और अपने सम्प्रदाय के प्रचार के लिये भ्रमण कर रहे थे। महदायिसा उनकी शिष्या बन गई और उनका अनुसरण करने लगीं। उन्होंने चक्रधर से उनके जीवन और दर्शन जिसकी वे शिक्षा दे रहे थे, के बारे में बहुत प्रश्न किये, ये व्यक्तिगत प्रश्न (कथाये) इतिहास और लीलाचरित नामक पुस्तकों में संकलित हैं। इनके माध्यम से हम उनके और उनके गुरु के बारे में महत्वपूर्ण सूचना प्राप्त कर सकते हैं ।' जब चक्रधर बद्री केदार की तीर्थयात्रा पर निकले तो वे चक्रधर के गुरु गोविन्द प्रभु के सानिध्य में रही ार गोविन्द प्रभु की मृत्यु के पश्चात उनके शिष्य नागदेव के पास रहीं। डॉ० तुलपुले ने जो वंशविस्तार दिया है उसके अनुसार वे नागदेवाचार्य की चचेरी बहन थीं। वे बहुत विदुषी समझी जाती थीं।' जीवन के अन्तिम समय में उनके एक पैर में फोड़ा हुआ और उसे चीरना आवश्यक समझा गया। उन्होंने कहा "मेरे गुरु इसकी अनुमति नहीं देगे मै अपने अन्तिम समय में हूँ, मैं मर जाना चाहूँगी बशर्ते कि अपने गुरु की आज्ञा का उल्लघन करूँ।' उनकी मृत्यु के पश्चात नागदेव ने टिपपणी थी कि वृद्ध स्त्री इस मत की संरक्षिका थी। नागदेवाचार्य ने इन्हें वृद्धा (म्हतारी) कहा है इनका प्रमाण काल शके १२३० है। स्मृति स्थल में नागदेवाचार्य का अपनी म्हतारी के निकट रहने का उल्लेख है।

' ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र श्रीमती कमलाबाई पृ०-३४३

' डॉ० विनय मोहन शर्मा हिन्दी को मराठी संतों की देन पृ०८५

' ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र पृ०-३४४

अतएव महादायिसा का प्रयाणकाल शके १२३० के पूर्व होना चाहिये।[1] इन्होंने धावळे, मातृकी, रूक्मिणी स्वयंवर और गर्भ काण्ड ओब्या नामक ग्रन्थों की रचना की है। इन्हें मराठी की प्रथम कथाकाव्य लेखिका होने का श्रेय प्राप्त है।[2] कविता के अंश जिसके लिये वे अच्छी जानी जाती है धावळे (Dhavale) है जो विवाह के अवसर पर गाया जाने वाला शुभ गीत है। इसमें उन्होनें कृष्ण और रूक्मिणी के विवाह का वर्णन किया है। गोविन्द प्रभु के विवाह के अवसर पर बिना किसी काट-छॉट और लिखे बिना वहीं उसी समय इस गीत को पूर्ण किया। छावळे गीतों का यह प्रथम भाग था। दूसरा भाग बाद में पूर्ण किया गया।[3] रूक्मिणी के विवाह के ऊपर उन्होंने एक अन्य कविता रची जिसकी पंक्तियॉ मातृकी या मराठी वर्णमाला के अनुसार रची गईं है। इन्होंने हिन्दी में भी रचना की है। पदों की संख्या अज्ञात है क्योंकि पता नहीं कितने पद काल कवलित हो गये। हिन्दी में रचित उनका केवल एक पद प्राप्त है जो डा० विनय मोहन शर्मा द्वारा रचित "हिन्दी को मराठी सन्तों की देन" ग्रन्थ में संकलित है। उक्त पद निम्नलिखित है–

> नगर द्वारा हो भिच्छा करो हो, बापुरे मोरी अवस्थालो।
> जहॉ जाबो तिहॉ आप सरिसा कोउ न करी मोरी चिंता लो।
> हाट चौहाटां पड रहूं हो मांग पंच घर भिच्छा
> बापुड लोक मोरी आवस्था कोउ न करी मोरी चिंता लो।[4]

---

[1] हिन्दी को मराठी संतो की देन डा० विनय मोहन शर्मा पृ०-८५
[2] हिन्दी को मराठी संतो की देन डा० विनय मोहन शर्मा पृ०-८५
[3] श्रीमती कमला बाइ पृ०-३४४
[4] हिन्दी को मराठी संतों की देन डा० विनय मोहन शर्मा पृ०-८५

"मार्ग" के आचार्य के अनुसार साधिका भिच्छा माँगकर चौहाटे में पड़ी रहती है। उसके गुरुदेव ही उसकी चिंता करते हैं। वह उन्हीं का आह्वान करती है। महदायिसा की गुरु भक्ति प्रसिद्ध है।[१] डा० विनय मोहन शर्मा महदायिसा की हिन्दी कविता की विशेषता बताते हुये लिखते है कि महदायिसा के हिन्दी पद की भाषा खड़ी बोली और ब्रज का मिश्रण है। अभिव्यक्ति में सहज प्रासादिकता है। करूण भाव की छाप है। चक्रधर स्वामी की अपेक्षा महदायिसा की भाषा में अधिक प्रौढ़ता है अधिक हिन्दीपन है। क्या ही अच्छा होता यदि इनके और भी हिन्दी पद प्राप्त हो सकते। इस प्रकार महादायिसा को मराठी साहित्य के इतिहास में प्रथम कवयित्री होने का गौरव प्राप्त है।

---

१ हिन्दी को मराठी सन्तों की देन पृ.८५ डा० विनय मोहन शर्मा

(३) मुक्ताबाई

मुक्ताबाई महाराष्ट्र प्रान्त की ख्यातिलब्ध सत कवयित्री है। वे वारकरी सम्प्रदाय से संबंध रखती हैं। वारकरी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तन संत पुण्डलिक के द्वारा १२वीं शती में हुआ था। वारकरी सम्प्रदाय के संत अपना सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय के साथ जोड़ते है। महाराष्ट्र मे नाथमत का प्रचारक गोरखनाथ को माना जाता है। डा० वासुदेव सिंह "हिन्दी साहित्य का उद्‌भव काल" मे इनकी वंशावली इस प्रकार मानते है।[1]
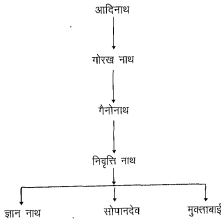
[1] हिन्दी साहित्य मे निगुणोपासिका कवयित्रियॉ पृ० ४६

आचार्य विनयमोहन शर्मा इस वंशावली को इस प्रकार मानते है[1]
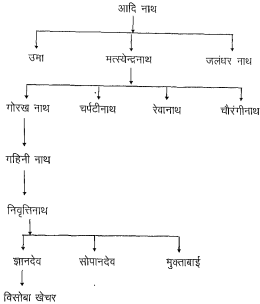
मुक्ताबाई का जन्म पैंठण के समीप गोदावरी नदी के तट पर स्थित आपेगाँव के विट्ठल पन्त के यहाँ हुआ था। इनकी माता का नाम राखमबाई था। इनके जन्म संवत के विषय में विद्वानों में बहुत मतभेद है। कृ० गो० वानखडे गुरु जी के अनुसार "ज्ञानेश्वर की बहन मुक्ताबाई का जन्म सं० १३३६ की आश्विन शुक्ला को हुआ।[2] प्रो० भी० गो० देशपाण्डे ने "मराठी का भक्ति साहित्य" में इनका जन्म सन् १२७९ में माना है।[3] श्रीमती कमला बाई का भी यही मत है।[3] पं०

---

[1] हिन्दी को मराठी सन्तो की देन पृ० ६३
[2] हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रीयॉ पृ०-४८
[3] वही

बलदेव उपाध्याय इनका समय सन् १२०१--१२१९ मानते हैं।[1] आचार्य विनयमोहन शर्मा के अनुसार ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ का समाप्तिकाल शके १२१२ निश्चित है, अतएवं इसी शताब्दी में निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपानदेव का जन्म होना चाहिए। शक संवत् के अनुसार मुक्ताबाई का जन्म शके १२०१ है।[2] मुक्ताबाई गुरु की आज्ञा से संन्यास धर्म से गृहस्थ धर्म में आये विट्ठल पन्त की चौथी सन्तान थी। निवृत्ति, ज्ञान एवं सोपान इनके बड़े भाई थे। इनके पिता विट्ठलपन्त वाराणसी के रामानन्द के शिष्य थें। कालान्तर में रामानन्द जी आळन्दी आये और राखमबाई को आठ पुत्रों की माँ होने का आर्शीवाद दिया। राखमबाई के यह बताने पर कि उनके पति विट्ठलपन्त रामानन्द जी के शिष्य हैं, वे (रामानन्द जी) उन्हें लेकर वाराणसी आये और चैतन्यानन्दजी (विट्ठलपन्त का संन्यास धर्म का नाम) को आळन्दी जाकर गृहस्थ धर्म स्वीकार करने की आज्ञा दी। विट्ठलपन्त ने संन्यासी होकर पुनः गृहस्थ आश्रम में प्रवेश किया था अतः उनका सामाजिक बहिष्कार कर दिया गया और प्रायश्चित स्वरूप जलसमाधि का विधान बताया गया। अंततः विट्ठल पन्त ने पत्नी सहित प्रयाग में गंगाजी में जलसमाधि ले ली। चारों बच्चे इस सहानुभुतिहीन संसार में उनके कर्मों का फल भुगतने के लिये छोड़ दिये गये। मुक्ताबाई की अवस्था उस समय छः वर्ष की थी।

मुक्ताबाई की रचनाओं में अद्वैत सिद्धान्त की बात बार-बार घूम फिर कर आई है। इसे लक्ष्य करके बहुत से मराठी ग्रन्थकारों ने उन्हें गोरखनाथ की

---

[1] ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया पृ०-३४४

[2] भागवत सम्प्रदाय पृ०-५८४

[3] 'हिन्दी को मराठी सन्तो की देन पृ०-९३-९४

शिष्या माना। गोरखनाथ नाथ परम्परा में सर्वजन पूज्य श्रेष्ठ गुरु थे, किन्तु मुक्ताबाई ने अपने बड़े भाई निवृत्ति नाथ का ही अपने गुरु के रूप में उल्लेख किया है।

मुक्ताबाई सावध करी निवृती राज।
हरी प्रेमे उमज एक तत्वे।[1]

मुक्ताबाई श्री हरी, उपदेशी निवृत्ती।
संसार पूढ़ती नांही आम्हा।

मुक्ताबाई कहती है कि इस चराचर विश्व मे ईश्वर का एक ही रूप अनुस्यूत है किन्तु वह तत्व मुक्ता के लिये अपरिचित था। स्थूल, सूक्ष्म सभी वस्तुयें स्वाभविक रूप में ईश्वर की सत्ता से सत्तावान है, उसी को मैं परब्रम्ह ईश्वर कहती हूँ। इस अद्वैत चैतन्य को उन्होंने प्राप्त किया था, क्योंकि गुरु निवृत्तिराज ने उन्हें भक्ति के माध्यम से यही तत्व समझाया था। सगुण भक्ति के माध्यम से उन्होंने शिष्या मुक्ता को निर्गुण रूप पहचनवाया था। द्वैत भाव की भक्ति करते-करते भक्त-ईश्वर का इतना अभिन्न हो जाता है कि उसका स्वतंत्र अस्तित्व तक नहीं रहता, इस अद्वैत अनुभव को योगज्ञान अथवा सिद्धि के बिना ही वह प्राप्त करता है। इस स्थिति को मुक्ता गुरु कृपा से प्राप्त करती हैं। निवृत्ति नाथ ने मुक्ता को केवल एक ही शिक्षा दी थी। सब कुछ श्री हरि हैं। सब रूप उसी पण्ढरपुर में कमर पर हाथ रखकर ईंट पर खड़े रहने वाले खिलाड़ी ने रख छोड़े हैं। उन पाण्डुरंग के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। तभी तो मुक्ता

---

[1] बगलाभाषा की पत्रिका निबोधत के "बालयोगिनी मुक्ताई नामक निबन्ध से उद्घृत पृ०-१७३

की दृष्टि इतनी विशाल हो गई कि वे कंकड़, पत्थर, कांटा, नाली के कीड़े, पशु-पक्षी, स्थावर-जंगम, पुष्प, कुत्ते सभी में उसी पांडुरंग के दर्शन करने लगीं। हाथों में कॉटा चुभ जाने पर अपने हाथों के दर्द की ओर उनका ध्यान कम जाता वरन् उसमें पांडुरंग को देखते हुये वे कह उठती "बड़े नटखट हैं पांडुरंग! कांटा, कंकड, पत्थर, इन रूपों को धारण करने में इन्हें न जाने क्यों आनन्द आता है।"[1]

"छिः छिः विढोबा बडे गंदें हैं, देखों न इस गंदी नाली में कीडे बनकर बिलबिला रहे हैं।"[2] यह एक शुद्ध बुद्ध हृदय में सर्वेश्वर को संसार के प्रत्येक रूप में देखने की साधना थी।

मुक्ता विसोबा खेचर की गुरु कही जाती हैं। मुक्ताबाई की कृपा से ही यह ईर्ष्यालु ब्राह्मण महात्मा विसोवा खेचर हो गया। श्री ज्ञानेश्वर की जीवनी से हमें एक तक्ष्य की प्राप्ति होती है। चॉग देव और ज्ञानेश्वर इन दो दार्शनिक भक्त श्रेष्ठों के मिलन से मराठी साहित्य में ''चाँगदेव पासष्ठी'' नामक अत्यन्त उच्च कोटे का ग्रन्थ हमें प्राप्त हुआ है इसमें यह उल्लिखित है कि चाँगदेव की गुरु मुक्ताबाई थीं, इसलिये इस ग्रन्थ में उनकी भूमिका मैं की है। उन्होंने ही शिष्य को आत्मज्ञान दिया था। कहा जाता है कि चौदह वर्ष की गुरुमाता के शिष्य चॉगदेव की उम्र उस समय ८४ वर्ष थी।[3] स्वयं चॉगदेव का कथन है

मुक्ताई जीवन चा गया दिधले
निर्गुणी सांघले घर कैसे[4]

---

[1] कल्याण, नारीअक, परमयोगिनी मुक्ताबाई पृ०-६५६

[2] वही

[3] विबोधत्त- वालायोगिनी मुक्ताई पृ०-१७२

[4] हिन्दी को मराठी सेतो की देन से उद्धृत, पृ०-९

मात्र चौदह वर्ष की अवस्था में मुक्ता ने जिस उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूति को प्राप्त किया था, उस अवस्था मे एक जीवन मे पहुँचना असम्भव है। वस्तुतः साधना क्षेत्र में वे अनेक जन्मों को लांघ गई थीं। योगी चॉंगदेव ने उल्लेख किया है कि मुक्ताबाई पूर्व जन्म में भी उनकी गुरु थी। प्रसिद्ध मराठी संत साहित्य गवेषक रा० चिंग टेरे ने "प्रबन्ध एवं तत्वसार ग्रन्थ का अध्ययन करके एक नवीन सत्य उद्घाटित किया है। उन्होने मुक्ता के पूर्व जन्म का इतिहास बताते हुये चॉंगदेव को पूर्वजन्म में उनका ही शिष्य होना बताया है।[1] महाराष्ट्र के विदर्भ प्रदेश में अचलपुर एक ग्राम है, वहॉं के राजा की लड़की का नाम सत्यवती था। उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य के साथ उसका विवाह हुआ था। विक्रमादित्य के भाई राजा भतृहरि संन्यासी हो गये थे। सत्यवती भतृहरि के वैराग्यपूर्ण, पवित्र जीवन से बहुत प्रभावित हुईं। पारमार्थिक लाभ के लिये मुमुक्षत्व की आकांक्षी सत्यवती भतृहरि से सत्य के अन्वेषण में तत्पर हुई। वे प्रतिदिन भतृहरि को अन्न भिक्षा देकर तब अन्न ग्रहण करती थीं। अत्यन्त निष्ठा के साथ सत्यवती इस व्रत का पालन करती थीं। किन्तु एक दिन इसमें व्यतिक्रम हो गया। बहुत समय तक भतृहरि की प्रतीक्षा करने के पश्चात् वे स्नान करने चली गईं। इसी बीच भतृहरि आ गये। सत्यवती को न देखकर बिना भिक्षा लिये ही वे लौट गये। इधर उनके अलख शब्द को सुनते ही सत्यवती जिस अवस्था मे थीं उसी अवस्था मे स्नानगृह से बाहर आकर देखती है तो वे जा चुके थे। सत्यवती वस्त्र आदि की ओर ध्यान न देते हुये भिक्षा का थाल हाथ में लिये हुये देहभाव से रहित, पागलों की तरह भतृहरि की ओर दौड़ी। उसी समय उसी पथ से साधु गोरखनाथ आ रहे थे। उन्होंने उनमें चेतना का सञ्चार किया और कहा "मॉं तुम

---

[1] वही

घर लौट जाओ।'' सत्यवती ने कहा, ''मृत देह को श्मशान में ले जाने के बाद क्या वह फिर लौट कर आती है? सत्यवती के उस तीव्र वैराग्य को देखकर गोरखनाथ ने उन्हें तत्वोपदेश दिया। परम स्नेह से उनका नाम रखा ''मुक्ताई''। गुरु से उपदेश पाकर सुयोग्य शिष्या श्री शैलपर्वत पर तपस्या करने चली गयी। साधना समाप्त करके वे पुनः महाराष्ट्र के विदर्भ प्रदेश में आईं, वहाँ साधक चॉगा बटेश्वर ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया, किन्तु उनकी शिक्षा समाप्त होने के पहले ही मुक्ताई ने समाधि लेकर संसार त्याग दिया। अमरावती जिले के मोरशी ग्राम से ४-५ कि०मी० दूर सालवरडी पहाड पर आज भी मुक्ताई का समाधि मन्दिर है। बाद के जन्म में यही मुक्ताई आळन्दी में विट्ठलपन्त की पुत्री होकर जन्मी और इस जन्म में पुनः चॉगदेव की गुरु होकर उनकी असमाप्त शिक्षा पूर्ण की।' यही चॉगदेव बटेश्वर महाराष्ट्र के प्रमुख सन्त नामदेव के गुरु हुये।

मुक्तावाई मे पद रचना कौशल था। उनके बहुत कम अभंग इस समय प्राप्त हैं और यह भी निश्चित नहीं है कि उन्होंने कितने अभंगों की रचना की, किन्तु जो भी कुछ रचनायें प्राप्त हैं, वे अभंग साहित्य की अमूल्य निधि हैं। जैसे उनका एक अभंग जिसमें उन्होंने नामदेव के अहंकारी व्यक्तित्व को चुनौती दी है और उन्हें तुरन्त किसी गुरु के शरणापन्न होने का आदेश दिया, स्वयं में एक पूरा कथा साहित्य समेटे है, जिसकी वर्णन क्षमता, रचना कौशल और सबसे बड़ी चीज जीवन का सत्य जिसे उन्होंने मात्र चौदहवर्ष की अवस्था में जान लिया थाः-

---

' नियोधत -- बाल योगिनी मुक्ताई पृ०-१७४

घेडनी टालदीण्डी हरि कथा करिसी।

हरिदास महन विसी श्रेष्ठ पणे।

गुरु बिन तूझ नवहेचिगा मोक्ष।

होसिल मुमुक्षु साधक तू।

आत्मवती दृष्टि नाहींच पा केली।

तव व़री ब्रम्ह बोली बोलून काय।

तूझे रूप तूवा नाहीं ओल खिले।

अहं ते धारिलें कास चासी।'

मुक्ता नामदेव से अत्यन्त दृढ़ स्वर में कहती हैं, देख रही हूँ तुम्हें भक्ति का अहंकार है। यदि अपना मंगल चाहते हो, तो शीघ्र किसी गुरु की शरणापन्न हो जाओ। भक्त होने के लिये केवल भक्ति, ज्ञान और कर्म यथेष्ट नहीं हैं। मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु उसके मन के भीतर है वह है अहंकार। वास्तविक साधना इस अंहकार को दूर करना ही है। अंहकार के मूल विनाश के लिये सद्गुरु की आवश्यकता है। इन पंक्तियों मे मनुष्य की मुक्ति का उपाय सहज किन्तु सुन्दर रूप में बताया गया है। अपनी प्रतिभा से भास्वर इस रचना के माध्यम से हम उनके तीव्र वैराग्य एवं उच्च भाव से परिचित होते हैं।

अन्त में यह निश्चित किया गया कि नामदेव आळन्दी जाये, जहॉं एक प्रसिद्ध सन्त गोरा कुम्हार रहते हैं, वे बतायेंगें कि नामदेव पूर्णसन्त है, कि नहीं। नामदेव परीक्षा के लिये आळन्दी आये जहॉं गोरा कुम्हार ने उन्हे कच्चा घड़ा

' निबोधत -- पृ०-१७२

कहा। नामदेव की परीक्षा के लिये जाते समय जब वे गोरा कुम्हार के घर जाने को निकली तब ऐसा प्रतीत हुआ मानों आकाश में मोतियों का चूर्ण विखर गया हो अथवा बिजली की कडकडाहट और चमचमाहट से आकाश भासमान हो उठा हो अथवा सारा आकाश ही पीताम्बर ओढ़े हो।--

गोतियांचा चुरा फेकिला अंवरी,
बिजूनिया परी कील झाले।
जरी पीताम्वर नेसविली नया,
चैतन्याचा गाया नील बिन्दु।
तली परी पसरे शून्याकार जालें,
सूर्याची ही पिलें नाचूं लागे।[1]

इस संबंध में आजगॉवकर का विचार है कि मुक्ताबाई की योगविद्या मे अच्छी गति होनी चाहिये।[2] आचार्य विनय मोहन शर्मा के अनुसार यह वर्णन मात्र आलंकारिक है। इससे उनके तेजस्वी रूप का ही संकेत मिलता है किसी योग साधना का चमत्कार नहीं। स्वयं ज्ञानेश्वर ऐसी क्रियाओं में आस्था नहीं रखते थे। उन्होंने हठ वादियों का उपहास ही किया है।[3]

मुक्ता के निम्नांकित अभंग मे आत्म ज्ञान प्राप्त होने पर जीव की क्या स्थिति होती है इसका उपदेश चॉगदेव के प्रति है--

---

[1] हिन्दी को मराठी सन्तो की देन पृ०-९५
[2] हिन्दी को मराठी सन्तो की देन से उद्‌धृत पृ० ९६
[3] वही

सान्डी ते मान्डी, मान्डी ते सान्डी।

सान्डने मान्डने दोन्ही ही सान्डी।

सोऽहं शून्य बूझा रेभाई,

सांगते एकते दोन्ही हीनाहीं।

नी ते कांई मांझे ते कांई।

परीयेसी चांगया बोले मुक्ताई।[1]

अर्थात् जिसने शरीर धारण किया है उसका विनाश अवश्यम्भावी है, और जिसकी मृत्यु होती है उसका जन्म भी होता है, किन्तु सृष्टि का यह नियम सिद्ध पुरुषों पर लागू नहीं होता। जिसने ईश्वर के प्रकृत रूप को जान लिया है, जिसने सोऽहं तत्व की उपलब्धि की है, वह जन्म-मृत्यु के ऊपर उठ गया है। जब तक आत्मज्ञान नही होता तब तक जो ज्ञान की बात कह रहा है, जो सुन रहा है एवं ज्ञान इन तीनों की पृथक सत्ता रहती है किन्तु आत्मज्ञान होने पर सभी एक तत्व में लय हो जाते हैं। इस अवस्था में अपने क्षुद्र अस्तित्व तक का बोध नहीं रहता है। हे चॉगदेव! मुक्ता के इस अमूल्य उपदेश को ध्यान से सुनो। महीयसी मुक्ताबाई ने अद्वैत वेदान्त के मूल तत्व को इस उपदेश के माध्यम से बताया है। एक अन्य अभंग में योगी चॉगदेव के प्रति कथन है। सत्य-असत्य, सुख-दुख सब जागतिक प्रपञ्च है। जीवन्मुक्त मनुष्य जिस सहजावस्था में रहता है उसी का इस अभंग में कथन है।

---

[1] निवोधत -- बालयोगिनी मुक्ताई पृ०-१७१

मुक्ताई महने चांगया भ्रमि सदेही,

निरधारी राही स्वप्न कैचे।

बंधने नांही बद्ध नाहीं,

साचकी लटिके वर्तते देहि नांही।

भेद नांही भेद सी काही,

साच की लटिके वर्तते देहि।

नांही सुख दुख, पाप पुन्य नांही,

नांही धर्म कर्म कल्पना ही नांही,

नांही मोक्ष ना भव बन्ध नांही,

महने बटेश्वरां ब्रह्ममही नांही,

सहज सिद्ध बोले मुक्ताई।[1]

यहॉ मुक्ता शिष्य कोसमझा रही हैं--

वास्तव में सत्य कहकर भी कुछ नहीं है और असत्य कहकर भी कुछ नहीं है। सत्य-असत्य, सुख-दुख ये सब कुछ द्वन्द्व जागतिक हैं अर्थात देह से सम्बन्धित हैं, जो विदेही है देह बोध के ऊपर उठ चुका है, उसके लिये यह सब अर्थहीन है, केवल सुख-दुख का अतिक्रमण ही नहीं, जीवनमुक्त मनुष्य का कर्म नाश हो जाता हैं। तब उसका धर्म बोध पूरी तरह पलट जाता है। वह ब्रम्ह की तरह विशाल हो जाता हे। ऐसी एक अवस्था भी आती है जब उसके लिये जगत् ब्रह्म अथवा मुक्ति की कोई पृथक सत्ता ही नहीं रह जाती है। इस अवस्था को शून्यावस्था कहते हैं। फूल जिस प्रकार अपने नियम से सहज रूप में प्रस्फुटित

---

[1] वाला-योगिनी मुक्ताई निबोधत-
जयश्री नातू - पृ० १७२-१७३

हो उठता है, उसी प्रकार सहज भाव से सिद्ध मुक्ताई तुम्हे ये बात कह रही है। सहज सर्वव्यापी विराट उस ईश्वर का अनुभव होने पर साधक की क्या अवस्था होती है उपर्युक्त पंक्तियों में स्पष्ट रूप से इसका वर्णन हैं। आश्चर्य तो इस बात पर होता है कि मात्र चौदह वर्ष की आयु में उन्होंने चौरासी वर्ष के चॉगदेव को यह उपदेश दिया। इतिहास में यह एक महत्वपूर्ण घटना है। वैसे वास्तविक अध्यात्म जगत में दैहिक आयु का कोई अर्थ नहीं है।

महातपस्विनी एवं चित्‌कला विभूषित मुक्ता संसार मे ससार क नियगो को मानकर चलती हैं। निवृत्ति, ज्ञान एवं सोपान की छोटी वहन होने के कारण उनकी घर गृहस्थी संभालना, तीनों योगी भाइयों को खिलाना,पिलाना आदि कार्य महान आनन्द से करती थीं। संन्यासी की सन्तान होने के कारण चारोंभाई बहन समाज से बहिष्कृत थे। भिक्षा मॉगने के लिये जाने पर उन्हें संन्यासी की सन्तान कहकर अपमानित किया जाता था भिक्षा के स्थान पर गोबर, मिट्टी, ककड प्राप्त होना और अश्राव्य भाषा का प्रयोग इन बच्चों को वहुत सन्तापित करता था। ऐसी ही एक घटना से ज्ञानदेव बहुत दुखी हुये और उन्होंने कोठरी का दरवाजा बन्द कर लिया। तब मुक्ता के मुख से निर्झर की भॉति बड़ी गूढ बाते फूट पड़ी। सावसील छन्द में निबद्ध इन पंक्तियों को "ताटीके अभंग" कहा जाता है, इस रचना में आठ--नौ वर्ष की अवस्था की मुक्ता भाई को समझाने के लिये कहती हैं--

योगी पावन मनाचा,
साही अपराध जनाचा
विश्व रागे झाले वनही,
सन्ती सुखे बहावे पानी।[1]

---

[1] निबोधत, वालयोगिनी मुक्ताई पृ० १७५, जयश्री नातू

अर्थात् योगी का मन पवित्र एवं विशाल होता है। साधारण मनुष्य से भूल भ्रान्ति तो होगी ही। योगी अपनी महत्ता से, उदारता से इन सबको क्षमा कर देता है। उसका मन सर्वथा शान्त रहता है। वह किसी प्रकार विचलित नहीं होता है, उसके हृदय में विवेक का अमित बल संचित रहता हैं। सम्पूर्ण विश्व धूँ-धूँ कर जल उठे तो भी वह अपने शक्तिबल से सब शीतल कर सकता है। अशान्त को शान्त करना ही तो उसका धर्म है और इसी में उसका आनन्द है। वे आगे कहती हैं।

शब्द शास्त्रे झाले क्लेश,
सन्ती मानाबा उपदेश।
विश्व पट ब्रम्ह दोरा
ताटी उघडा ज्ञानेश्वरा।[1]

आपको निश्चित ही किसी की बातों से बहुत आघात लगा है। आपके कोमल हृदय को इसने विदीर्ण कर दिया है। किन्तु आपके समान साधक के लिये इतना विचलित होना, कष्ट पाना शोभा नहीं देता है। इसके अतिरिक्त निन्दा भी तो एक तरह का उपदेश ही है। साधक का मन इतना शान्त, इतना महान होता है कि मनुष्य के निन्दावाद को वह उपदेश रूप में शिराधार्य कर लेता है। जड़ चेतन वस्तुओं से भरा यह जो विश्व है, इसका स्वरूप क्या है। यह विश्व तो ब्रह्मरूप एक सूते से बुना हुआ एक वस्त्र है। यह तत्व तो आपको ज्ञात है, निखिल विश्व जब एक ही अद्वितीय ब्रह्म सूत्र से ग्रथित है, तो कौन किसको

[1] निर्बोधत - बालयोगिनी मुक्ताई पृ० १७५ जयश्री नातू

गाली देता है, कौन किसे निन्ध समझता है। मेरे भाई ज्ञानेश्वर। इसलिये दरवाजा खोल दो। वे आगे कहती हैं।

शुद्धज्याचा भाव झाला,
दूरी नाहीं देव प्याला।
अवधी साध्न हात बटी,
मोले मिलत नांही हाटी।
कोणाी कोणा सिक बावे,
सार साधुनिया ध्यावे,
लडी बाल मुक्ताबाई।
जीव मुद्दल ढाई चेठाई।
तुमही तरूनी विश्वतारा,
ताटी उघडा ज्ञानेश्वरा।

अर्थात् हम यदि ईश्वर की प्राप्ति करना चाहते हैं तो सबसे पहले अपने मन को पवित्र करना होगा शुद्ध करना होगा, क्योंकि जिसका जैसा भाव होगा उसे वैसा ही लाभ होगा। जिस रूप में हम उनकी चिन्ता करेगे, उन्हें पाने की इच्छा करेंगें, उसी रूप में वे दर्शन देंगे। जो शुद्ध है, पवित्र है, भगवान उसके साथ छाया की तरह घूमते है। मुक्ता ने इस अभंग में जिस शुद्धा भक्ति एवं समर्पण की बात कही है, ये दोनों साधनायें अत्यन्त कठिन है। इसीलिये मुक्ता कह रही है कि सब कुछ समर्पण, निःशर्त समर्पण की यह साधना अनायास लक्ष्य नहीं है। यह भाव लाने के लिये संसार का, माया-मोह का, पूर्णरूप से त्याग करना होगा। माया का आवरण पूर्णतः हट जाने पर ही अन्तर्स्थित चैतन्य

प्राप्त होता है। ये समस्त बातें आप जानते है। मैं आपसे बहुत छोटी हूँ। बहुत सी उल्टी सीधी बातें मैने आपसे कह डाली है। आप केवल सार लीजियेगा।

गुरु जनों को कोई उपदेश देना या सिखाना अपराध है, और यह अपराध मुक्ता ने कर डाला है। इसी से भाई से क्षमा प्रार्थना करती हुई वे कहती हैं, मैं आपकी प्यारी छोटी बहन हूँ, आपके शरीर के कष्ट के लिये मुझे बड़ा उद्वेग हो रहा है। आपके महामूल्यवान शरीर को लोक कल्याण हेतु यत्न पूर्वक रखना उचित है। सैकड़ों मनुष्यों को आप भवसमुद्र से पार होने की शक्ति देंगें, प्रेरणा देंगें। आप मुक्त पुरुष हैं, किन्तु संसार के अन्य प्राणी आर्त्त हैं, पीड़ित हैं, उनकी मुक्ति का उपाय भी आपको ही करना होगा। आपके कोठरी का द्वार खोलने पर ही इन अज्ञानी लोगों की आँखों से अज्ञान का परदा हटेगा। ज्ञान का द्वार खुलेगा, अतः हे ज्ञानेश्वर। मेरे भाई, मेरी विनती सुनकर दरवाजा खोल दो।

इतनी अल्पायु की बालिका के मुख से ये अमूल्य ज्ञानगर्भित वाणी सुनकर अवाक् हो जाना पड़ता है। इस अकल्पनीय उपदेश से शान्त हो ज्ञानदेव द्वार खोलते हैं। इस घटना के बाद ज्ञानदेव "भावार्थदीपिका" ओर "अमृतानुभव" नामक दो रचनाओं की सृष्टि करते हैं। इन दो अमूल्य ग्रन्थों से हम वन्चित रह जाते यदि मुक्ता ने अपनी सारगर्भित वाणी से ज्ञानदेव के क्रोध को शान्त न किया होता।ज्ञानेश्वर के प्रति मुक्ता की भक्ति एवं निष्ठा इन दो पंक्तियों से प्रमाणित होती है, जो ज्ञानेश्वर की समाधि के बाद कही गयी है।--

आम्हां माता पिता ज्ञानेश्वर,
नांहीं आता थार विश्रांती सी[1]

---

[1] हिन्दी को मराठी सन्तों की देन पृ० ९५

मुक्तावाई द्वारा रचित एक अन्य पद जो "हिन्दी को मराठी सन्तों की देन" में संकलित है, में यौगिक शब्दावली का प्रयोग है--

साधना के द्वारा उस स्थिति में जीव के पहुँचने का कथन हैं जहाँ सारे भेद स्वयं मिट जाते हैं --

वाह-वाह साहब जी, सदगुरु लाल गुंसाई जी।

लाल बीच भो उडला, काला ओंठ-पीठ सों काला।

पीत उन्मनी भ्रमर गुम्फा, रस झूलन वाला।

सद्‌गुरु चेले दोनों बराबर, एक दस्तयों भाई।

एक से एक दर्शन पाये, महाराज मुक्तावाई।'

इस पद में प्रयुक्त उन्मनी, भ्रमर, गुम्फा, रस, झूलनवाला शब्द हठयोग की पारिभाषिक शब्दावली का ज्ञान कराते हैं। साहब जी शब्द कबीर आदि सन्तों द्वारा गुरु के लिये प्रयुक्त आदरसूचक शब्द है। गुसाईं जी भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उक्त पद में लाल रजोगुण का, उडला अर्थात् उजला सतोगुण का, और काला तमोगुण का प्रतीक है, मनरूपी भ्रमर उन्मनी दशा का आश्रय लेकर चैतन्यानन्द रूपी गुफा में निरन्तर ब्रम्हानन्द के दिव्य रस का पान करके मदमत्त रहता है। इसस्थिति में ही वह जीव और ब्रम्ह के ऐक्य का सत्य जानता है।

मुक्ताबाई की मृत्यु के बारे में विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया में श्रीमती कमलाबाई ने बिजली गिर जाने से उनकी मृत्यु होने का

' वही पृ० ९५-९६

संकेत दिया है।[1] कृ० गो० वानखड़े गुरु जी के अनुसार मुक्ता ने तापी नदी के किनारे स्वतः अपना मर्त्य कलेवर त्याग दिया।[2] जयश्री नातू ने भी खानदेश के एदलाबाद से छः मील दूर नामदेव के निवासस्थान के समीप मेहूँण नामक ग्राम में आकाश से आते हुये जयोर्तिमय प्रकाश में मुक्ता के विलीन होने का वर्णन किया हैं।[3] उनके मृत्यु संवत् के बारे में भी बहुत मतभेद हैं, आ० विनय मोहन शर्मा के अनुसार ''जिस समय ज्ञानदेव ने शके १२०९ में समाधि ली, उनकी आयु २१ वर्ष थी। --------- ज्ञानदेव की समाधि के अनन्तर सोपानदेव ने भी शके १२१२ में समाधि ली शके १२१९ बैशाख बड़ी १२ को मेघगर्जन और जलवृष्टि के समय मुक्ताबाई ने इह लीला समाप्त की।[4] जबकि इसी पुस्तक में उन्होने ज्ञानेश्वरी का समाप्तिकाल शके १२१२ बताया है। इस हिसाब से तो ज्ञानेश्वरी का समाप्तिकाल ज्ञानदेव की समाधि के पश्चात ठहरता है। भी० गो० देशपाण्डे[5] और कमलाबाई देशपाण्डे[6] ने उनका जीवन काल सन् १२७९ से १२९७ तक माना है। आचार्य विनयमोहन शर्मा ने इनका समाधि स्थल माणगॉव में माना है, जबकि महाराष्ट्रीय ज्ञान कोष में इनका समाधि स्थल एदलाबाद बताया गया है।

मुक्ताबाई को ब्रह्म ज्ञान था उसी ज्ञान की अमूल्य सम्पत्ति उन्होंने प्राणि मात्र को दी। उनका ज्ञान वेदान्त तत्व पर निर्भर है। उनके उपदेश में उनके ज्ञानी रूप का दिग्दर्शन होता है, किन्तु अहंकार का लेश मात्र भी नहीं है।

---

1. ग्रेट विमेन आफ इन्डिया, पृ० - ३४८
2. हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियों से उद्धृत पृ०- ५१
3. निबोधत पृ०-१७६
4. हिन्दी को मराठी संतों की देन पृ० ९५
5. हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियों से उद्धृत पृ०- ५१
6. ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया पृ० ३४८

साधना के मार्ग की पहली सीढ़ी है अंहकार का नाश। कबीर के " मैमंता मन मारि रे" की तरह वे भी, मूढ़ जनसमुदाय कोही नहीं वरन् नामदेव जैसे भक्त को, जिसमें अभी तक अभिमान शेष था, "अहं ते धारिले कास चासी" कहकर प्रबोधित करती हैं।

मुक्ता स्वयं में एक परिपूर्ण व्यक्तित्व थीं। वे एक सात्विक साधिका थीं। उनके अभंग संत साहित्य की दैनिक प्रार्थना के अंग हैं। ज्ञान के क्षेत्र मे उनका स्थान इतना ऊँचा था कि वहाँ आयु तो तुच्छ उनका नारीत्व भी आड़े नहीं आ सका। अभंग साहित्य में उनके अभंगों की दीप्ति ही दिव्य हैं। वे दिव्य आलोक से दीपित हैं। नाथ परम्परा में आने वाली मुक्ता अद्वैत तत्व ज्ञान की उच्छल निर्झरिणी हैं। संत परम्परा में इतनी कम आयु में उनका यह योगदान अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

(४) बहिणा बाई

महाराष्ट्र की संत कवयित्रियों में बहिणाबाई अद्वितीय स्थान रखती हैं। उनका जन्म १६२८ और मृत्यु १७०० ई० में हुई थी। केवल वे ही ऐसी सन्त कवयित्री हुई हैं जिन्होंने अपने जीवन के बारे में कुछ साक्ष्य दिये हैं। उनका जन्म वेरूला, के पश्चिम में स्थित "देवगॉव" में हुआ था। उनके पिता का नाम औदेव कुलकर्णी और माता का नाम जानकी बाई था। उनके पिता ग्रामीण स्तर पर लेखन कार्य करते थे। उनके कोई सन्तान नहीं थी इसलिये उन्होंने अत्यन्त कठिन तप किया उसके बाद ही बहिणाबाई का जन्म हुआ। इनके पश्चात दो पुत्र उत्पन्न हुये। जब वे पांच वर्ष की थीं, तब उनका विवाह तीस वर्ष के विधुर एक विद्वान ब्राह्मण रत्नाकर पाठक से कर दिया गया।

पारिवारिक कलह के कारण बहिणाबाई के माता-पिता ने "देवगॉव" छोड़ दिया। औदेव के अनुरोध पर उनके दामाद अर्थात् बहिणा के पति भी उनके साथ चल दिये। दो वर्ष तक भ्रमण के पश्चात इन लोगों ने कोल्हापुर में एक विद्वान ब्राम्हण बहिराम भट्ट के बरामदे में शरण ली। भ्रमण के दौरान बहिणाबाई के मस्तिष्क पर पण्ढरपुर की यात्रा ने अमिट प्रभाव छोडा। विट्ठल के दर्शन से वे भक्ति रस से ओतप्रोत हो उठीं। वहीं उन्होंने तुकाराम के अभंगों का गायन भी सुना, फलस्वरूप उनकी लौकिक चिन्तायें तिरोहित हो गईं। हृदय शुद्ध-बुद्ध एवं मन प्रसन्न हो गया। तदनन्तर वे सभी "देहूगॉव" गये, वहॉ बहिणाबाई ने तुकाराम जी को वैसा ही पाया जैसा उन्होंने एक बार स्वप्न में देखा था। वे तुकाराम जी के संसर्ग में रहकर नित्य उनके अभंगों का श्रवण करने लगीं। यहॉ भी इन लोगों

के लिये बहुत कठिनाईयाँ थीं। कुछ लोगों को ब्राम्हण दम्पत्ति द्वारा तुकाराम जी के शिष्यों को बुलाना आपत्तिजनक लगता था, क्योंकि वे निम्न जाति के थे।

बहिणाबाई की रुचि योग में थी, यद्यपि वह औपचारिक रूप से उसमें दीक्षित नहीं थी जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है, "मैंने तीन दिनों तक लगातार ध्यान किया। अन्त में मैंने महसूस किया कि जैसे तुकाराम मेरे सामने आये मेरे सिर पर अपना हाथ रखा और मुझसे रचना करने के लिये कहा, मैं नहीं जानती कि ये वास्तविकता है या स्वप्न, लेकिन मैंने बहुत प्रसन्नता और उल्लास का अनुभव किया।मैं उठ बैठी और नदी में स्नान के लिये गई। जैसे ही मैं नदी से बाहर आई, मेरे मुँह से शब्द झरने लगे, मैं नहीं जानती कि कैसे[1]

उनके एक पुत्र और एक पुत्री थी। ऐसा प्रतीत होता हे कि वे देहू में तब तक रही जब तक तुकाराम रहे। उसके बाद के अपने जीवन के बारे में उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया हैं अपने पुत्र को अन्तिम उपदेश के रूप मे उन्होंने जो रचना की है उसमें उन्होंने अपने पूर्व जन्मों का उल्लेख किया है और यह वे अपनी मृत्यु से पूर्व जान पाई थीं। बहिणा बाई के गुरु को लेकर विवाद है। कुछ लोग इन्हें तुकाराम की शिष्या मानते हैं, कुछ समर्थ रामदास जी की। तुकाराम जी के द्वारा समाधि ले लेने के पश्चात् ये कुछ समय तक समर्थ रामदास जी के सम्पर्क में रहीं, अतः यह विवाद उठना स्वाभाविक है, किन्तु डा० तुलपुले ने महाराष्ट्र सारस्वत की पुरवणी में लिखा है कि अब इस शंका के लिये कोई स्थान नहीं रहा जाता कि बहिणाबाई वारकरी थीं या रामदासी, क्योंकि स्व० पांगारकर ने शिउर की पोथियों को देखकर यह निर्णय दिया है कि बहिणाबाई

---

[1] ग्रेट विमेन ऑफ इण्डिया पृ० ३५३

नाम की महाराष्ट्र में एक ही संत कवयित्री हुई हैं और वह तुकाराम की शिष्या है।[1] बहिणाबाई की गुरु परम्परा इस प्रकार है।

आदिनाथ शंकर
↓
मत्स्येन्द्र नाथ
↓
गोरखनाथ
↓
गहिनी नाथ
↓
निवृत्ति नाथ
↓
ज्ञानेश्वर
↓
सच्चिदानन्द
↓
बाबा
↓
विश्वम्भर
↓
राघव
↓
चेतन
↓
केशव चैतन्य
↓
बाबाजी चैतन्य
↓
तुकाराम
↓
बहिणाबाई

---

[1] हिन्दी को मराठी संतों की देन से उद्‌घृत

बहिणा बाई की एक हिन्दी रचना ''गौलणी'' ''हिन्दी को मराठी सन्तों के देन'' में संकलित है। हिन्दी में उनकी यही रचना प्राप्त है-- गौलण का अर्थ है ''गोपी'' अतः ''गौलणी'' गोपी भाव की रचना है। इसमें कारागार में कृष्ण जन्म से लेकर उनके गोकुल गमन एवं नन्द के घर आनन्दोत्सव ओर कृष्ण के गोपियों के प्रति अनुराग एवं कृष्ण का ब्रम्हस्वरूप में वर्णन है।

कारागार में कृष्ण का जन्म होता है और देवकी भय से कातर होकर अपने पति वसुदेव से अनुनय विनय करती है कि इसे लेकर तुम कहीं अन्यत्र चले जाओ नहीं तो कंस इसके भी प्राण ले लेगा।[1] वसुदेव चिन्ता करते हैं कि रात्रि का अंधेरा है यमुना बढ़ी हुई है घनघोर वर्षा हो रही है और हाथों -पैरों में हथकड़ी-बेड़ी पड़ी है, ऐसे में नन्द गृह जाना कैसे संभव है।[2] उसी समय बेडी टूट जाती है, पट खुल जाते हैं- बहिणाबाई उस ईश्वर की दयालुता का वर्णन करती हैं कि जिसकी कृपा से इस जगत का अस्तित्व है, उसका भला यम-पाश क्या बिगाड़ सकता है।[3] स्वयं अविनाशी ईश्वर ही हथकड़ी-बेड़ी खोल देता है।[4]

---

[1] देवकी कहे सुन बात भतारो
सुनि के आवे कस रे -----
शल के जावाजी तुम वसुदेवा,
आयेंगे कंस विखार
दख विखे प्राण लेवें सबके-----
हिन्दी को मराठी संतो की देन में ''गौलणी'' शीर्षक से पृ० ३४७

[2] अच्छी रात भयी है,
जमुना आये मेघ तुसार
पाव में येरी कुलपों कैसे
जाना नद के बार, वही पृ० ३४७

[3] बेरी तब ही तूट परी है
बंधन तूटो पासे रे
बहिणी कहे जीस कृपा
उस कहा करे जमपास रे
हिन्दी को मराठी सतों की देन मे ''गौलणी '' शीर्षक से उद्घृत पृ० ३४७

वसुदेव कृष्ण को लेकर गोकुल चल देते हैं, मुसलाधार वर्षा से स्वयं शेषनाग अपने फन का छत्र लगाकर रक्षा करते हैं।' यमुना का जल पर्वत के समान ऊँची-ऊँची लहरों के रूप में बढ़ रहा था क्योंकि यमुना जी ने श्रीकृष्ण के "अलौकिकत्व" को पहचान लिया था और समस्त दोष उस चरण स्पर्श से बह जायेंगे इस लिये चरण स्पर्श के लिये तरंगायित हो उठीं' जिस चरणों से निःसृत सुरसरि को भगवान शंकर ने अपने मस्तक पर धारण किया है, वे चरण अब स्वयं उसके पास आये हैं तो क्यों न उस पुण्य फल को प्राप्त किया जाय' समस्त बाधायें दूर हो जाती हैं, जब संकट काटने वाली स्वयं वसुदेव के हाथ में हैं तो संकट कैसे आ सकता है।' वसुदेव गोकुल पहुँचते हैं दरवाजे, साँकल स्वयं खुल जाते है, यशोदा माया के वशीभूत हो निद्रामग्न हैं, माया का प्राकट्य होता है, माया को लेकर एवं कृष्ण को यशोदा के पास छोड़कर वसुदेव मथुरा पहुँचते हैं, एवं देवकी को माया सौंपते हैं।'

देवकी वसुदेव को भगवान अपना चतुर्भुज रूप दिखाते है शंख,चक्र, गदा, पद्म, कौस्तुभमणि से युक्त रूप देखकर देवकी - वसुदेव अचंभित हैं एवं उन्हें

---

[४] बेरी कुलपों आप ही खोलत
जावत है अविनाश रे, वही पृ० ३४७

[१] मेघ तुसार निवारे फनिधर सेवा करे बलिहारी, वही पृ० ३४८

[२] जैसा परवन वैसा नीर हवो जानी के हास
पाव लागे जवु बहे जायेगे सब दोस, वही पृ० ३४८

[३] जिस चरन को तीरथ शंकर माथा रखीया नीर।
वो चरन अब प्राप्त भये हो ये जान उधार।।
"हिन्दी को मराठी संतो की देन" गौलणी से पृ० ३४८

[४] वसुदेवा कर आप ही मुरारी
काहे कु सकट आवे, वही पृ० ३४८

[५] वसूदेवा तब वारन आवे----
----दरवाजे रखेफेरा, वही पृ० ३४८

विश्वास हो गया कि भगवान ने अवतार ले लिया है[1], और अब वे भगवान से अपना रूप बदलने को कहते हैं, क्योंकि इससे कंस उन्हें पहचान लेगा।[2] वे अचंभित है कि किस जन्म का फल उदित हुआ है क्यों कि उन्होंने जप, तप, दान, नहीं किया अर्चना-वंदना भी नहीं जानी, तीर्थ यात्रा भी नहीं की, न तो वन में ही नंगे शरीर एवं पैरों से विचरण किया, न तो पर्वत में योगी होकर तपस्या ही की, न तो ग्रीष्म ऋतु में पञ्चाग्नि से तप्त हुये, न शीत ऋतु में जल में निवास किया, तो यह किस जन्म का संचित फल है, जो भगवान ने अपने नील वर्ण स्वरूप का दर्शन मुझे कराया है।[3] अवश्य ही कोई पुण्य बेला प्रकट हुई है जो आपने मेरे उदर से जन्म लिया है।[4] इसका समाधान श्री कृष्ण अपने

---

[1] चारभुजा तुमको गोबिन्द चक्र गदा और शख
जबहि कौस्तुभ देखत तब वो मारेगा छोड़ो भेख
हिन्दी को मराठी संतो की देन मे संकलित ''गौलणी'' से पृ ३४९

[2] तुम रूप छोड़ा देवा हमसे
कस कु है दावा, वही पृ० ३४८

[3] नहीं कीये जप तप दान
नै गृही ब्रह्मन पूजन
तुम क्यों प्रगट भयो कहा जानो
अर्चन बंदन नहि कहुपायो
हाय अचंभा मान, वही पृ० ३४९
नगाह पॉव नंगा देहहि
बन-बन जानत रान
परबत माहे जोगी होकर
छोड दियो ससार
घूमरपान और पंचाग्नी साधन
बैठे जल की धार
वहिनी कहे कहा जलम का
सचित प्राप्त भये इस बेला
चार भुजा हरि मुज को दिखाया
ये ही कहा घन नीला

[4] बहिनी कहे हरि प्रगट भयो है, उदर मे कारण कौन
पुण्य की बेला प्रगट भई है, वोही कारण जान
हिन्दी को मराठी सतो की देन मे संकलित ''गौलणी'' से पृ० ३४९

मुख से स्वयं करते हैं कि बिना पुण्य के कोई सत्-चित् आनन्द स्वरूप भगवान का दर्शन नहीं प्राप्त कर सकता है।[1] जिसके घर में ईश्वर का अवतार होता है वह अवश्य कोई पुण्य राशि होगा। उस घर में शांति और क्षमा निवास करती है और सभी सम्पत्तियॉ दासवत् रहती है।[2] तब वसुदेव-देवकी को अपने पूर्व जन्म में किये घोर तप का स्मरण आता है, जब कठिन तपस्या के उपरान्त भगवान ने तीन जन्मों तक देवकी के उदर से जन्म लेना स्वीकार किया था।[3] उस तप के कारण ही श्री कृष्ण का जन्म हुआ है[4] तप, व्रत, दान विहीन के सम्मुख श्री कृष्ण नहीं आ सकते हैं और बिना श्री कृष्ण के संसर्ग के जीव की मुक्ति नहीं होती[5] जैसे फूल के बिना फल, जल के बिना अंकुर, पुरुष के बिना स्त्री (यहॉ बहिनी ने स्त्री के लिये छाया शब्द का प्रयोग किया है।) सूर्य के बिना कमलिनी, सूर्य के बिना तेज अस्तित्व विहीन है, वैसे ही पूर्ण पुरुष के बिना जीव का अस्तित्व नहीं

---

[1] सुनो कहत है शाम सुजानो
पुण्य बिना न हीं कोई
जिसके पल्ले जप तप दान है
पावै दरसन वोही, वही पृ० ३४९

[2] बहिनी कहे जिसकु हरि आवे
के ही है पुण्य की रास
शांती क्षमा उस घर में सोवे
सबही सपत दास, वही पृ० ३५०

[3] पूरब जनम तप करत है
तब वरद मिलो बनमाली
मेरे पेट में प्रगटो निरगुन
योही मांगत बाली, वही पृ० ३५०
तीन जनम मे मेरे उदर मे
आऊँ वर दियो उस रात

[4] उस तप के लीये उदर कूँ आये जन
वोहि कृष्ण भयो है येही तप के कारन।
हिन्दी को मराठी संतों की देन मे सकलित गौलणी से पृ ३५०

[5] तप व्रत दान बिन विहिन
सेवा कृष्ण न आवे संग
सग बिननहीं मुक्तिजिवांकू

है, मुक्ति नहीं है वसुदेव देवकी को मुक्ति प्रदान करने के लिये श्री कृष्ण उनके घर जन्म लेते हैं।[1] उधर ब्रज में जैसे ही यह समाचार फैलता है, कि श्री कृष्ण नंद यशोदा के घर जन्म ले चुकें हैं तो नर-नारियाँ मिलकर श्री हरि को देखने चल पड़ती हैं नारियाँ आरती लेकर गा रही हैं। तोरण द्वार सजाये जा रहे हैं, आनन्दोत्सव मनाये जा रहे हैं, सभी नन्द के सौभाग्य की सराहना कर रहे हैं।[2] घर-घर राग-रागिनी का गायन हो रहा है। उस मुख सौन्दर्य का वर्णन नहीं किया जा सकता है। बृजनारी स्वर्ण लुटा रही हैं। कुंकुम, केसर, चंदन, फूल, गुलाल की शोभा और सुगन्ध चतुर्दिक फैल रही है। इन्द्र शेष, शिव उत्सव का अवलोकन कर रहे हैं, रंभा आदि देव नर्तकियॉ नृत्य-गान कर रही हैं दिव्य वाद्य बज रहे हैं।[3] बहिणा के अनुसार तो हरि के जन्म का क्या कारण है, क्या कहूँ

ये ही कहत श्रीरंग, वही पृ० ३५०

[1] बहिनी कहे उस वसुदेव
देवकी कु देव मुक्ति
वयसो तपबिन प्राप्त नहीं वो साधु की सगती। वही पृ० ३५१

[2] सब ब्रज नारी सुनो
हरि जनमों नंद जसोदा पेट
चलयो चलय उस हरि कूं देखे
मिल निकलत है घाट
नारी आरती कर ले गावत
हिन्दी को मराठी संतों की देन मे सकलित "गौलणी" से पृ० ३५१
अपने अपने घर तोरन
गुडिया धरत है जनमे सुत
नद को भाग कोई न जाने, वही पृ० ३५१

[3] घरघर गावत राग रागिनी
ठोरे-ठोरे भयी भार
वा मुख कहा कहू
अपने मुख से आवे न जाने पारइअहजितप४
ब्रजजन नारी मगल गावत
चिरलुटावे भार --------वही पृ० ३५२
कुकुम केसर चुव्या चदन,
फूल गुलाल की शोभा
देखत इन्दर, फणींदर महेदर

उरो तो हरि ही जान सकते हैं, यह स्त्री (बहिणा) देह भाव से रहित हो छन्द प्रबंध सुना रही है।[1] बड़े-बडे मल्लों को कंटक सदृश निकाल फेंकने के लिये, दैत्यों के शिरोच्छेदन के लिये, गोपियों को सनाथ करने के लिये प्राणनाथ कृष्ण का जन्म हुआ है।[2] भक्तों के विरद हेतु, धर्म की रक्षा हेतु, पाप के समूल नाश हेतु वही परब्रम्ह कृष्ण के रूप में अवतरित हुआ है यह शास्त्रों का वचन है और संतों का अनुभूत सत्य है।[3] नन्द के प्रति भी उनका कथन है कि इन्हें सुत मत कहो, ये तो स्वयं अविनाशी ब्रह्म हैं--[4] जिस परम ब्रह्म से साक्षात्कार की आशा में योगी संसार का परित्याग करके वैराग्य धारण कर वन में वास करता है, पत्तो का भक्षण करता है, गंगा में स्नान करने जाता है, धरती पर शयन करता है एवं

गावत है सब रभा
नाद न भेरी ताल ही
जब झट नाद ने अंबर गाजे
नाना सुर बजायत
छेदे ढोल ढमामे बाजे
[1] बहिनी कहे हरि जन्म को कहा कहूँ हरि जाने
छन्द प्रबन्ध सुनावत नारी, वही पृ० ३५२
देह भाव नहिं जने
[2] कंटक को मल्ल मर्द
दौतन को सिर छेद
सुत तेरा नंद कृष्ण
तोही जानी है, गोपिन को प्राननाथ, वही पृ० ३५२
[3] भक्तन कू करे रानाथ
शास्तर की ऐसी वात
सत जानी है
धरम का रक्षन आया
पाप कू सब डार दिया
वो ही सुत नद भया
वात ये सत्य जानी है, वही पृ० ३५२
[4] सुतमत कहो नंद, ब्रम्ह सो ये ही गोविन्द
बहिनी का भार प्रबंध, सत्य सुदाईये। वही पृ० ३५२

जप-तप करता है।[1] जिसकी प्राप्ति की आशा में सिर मूँछ मुड़ाता है, जल में निवास करता है वही गोबिन्द तेरे घर में प्रकट हूये हैं।[2]

किशोर कृष्ण यमुना के तट पर गाय चराते है। हास्य-विनोद करते हैं, गीत गाते हैं, नृत्य करते हैं। ऐसे श्री कृष्ण से मिलने एक गोपिका आती है। यहाँ गोपिका के माध्यम से बहिणाबाई श्री कृष्ण के प्रति अपना अनुराग व्यक्त करती हैं। पीत वस्त्र पहने हुये कानों में कुण्डल, सिर पर मयूर पिच्छ धारण किये श्री कृष्ण के मोहक स्वरूप पर उक्त गोपिका आसक्त है। मन्द-मन्द स्वरों में मधुर गीत श्री कृष्ण गा रहे हैं, ऐसी स्थिति में बहिणा को समस्त बाह्यजगत की सुधि भूल गई, उनका मन तो अविनाशी ईश्वर से लग गया है।[3]

---

[1] जीस आस जोगी जग
जीस आस छोड़ भाग
जीस आस ले बैराग बनवास जात है
जीस आसपानखावे
जिस आस गंग जावे
जीस आस धरत सोवे
जप तप ही करतु है।, ''हिन्दी को मराठी संतो की देन मे संकलित ''गौलणी से पृ० ३५३

[2] जीस आस शिर मुंडे
जीस आस मुच्छ खंडे
जीस आस होत रंडे
जलमे वसतु है
वो ही सत्य जान नन्द
प्रगट भया है गोविन्द
पुण्य ही तेरा अगाध
बहिणी ये कहतु है, वही पृ० ३५३

[3] जमुना के तट धेनु चरावत
गावत है गोपाल री,
गीत प्रबंध हास्य विनोद
नाचत है श्री हरी
मै येरी देखत भय
नदलाल कांसे पीत वसन है झलाल
कानों में कडल देती ढाल

श्री कृष्ण भक्त वत्सल हैं, भक्त भय भंजन है, पातक गञ्जन है, आर्त भक्तों की पुकार सुनने वाले हैं, उनके इसी विरद का वर्णन रावण-विभीषण, प्रहलाद, हिरण्याकश्यप, गज-ग्राह के माध्यम से किया है, जिसमें रावण, हिरण्याकश्यप और ग्राह की मुक्ति हो जाती है और विभीषण, प्रहलाद एवं गज को उनकी कृपा प्राप्त होती है। मीरा के लिये तो विष का प्याला ही अमृत का कर दिया एवं सुदामा की कुटिया सोने की नगरी में परिणत कर दी।[1] कहीं-कहीं बहिणाबाई पूरी यौगिक शब्दावली का प्रयोग करती हैं, स्वयं को योगी, साधु, संत कहती हैं और ग्रहस्थ जीवन के बारे में अनभिज्ञता प्रकट करती हैं--

---

सिर पर मोर पिखा मोर दिखा नंदलाल,
छन्द धीमा-धीमा सुनावत है
हरि बध गयो मेरो प्रान
बहिना कहे सब भूल गये
मेरा हरि सुलगा है मन, वही पृ० ३५३
रावन मार के विभीषण लंका
यह पाई राज्य कमाई
राक्षस कू अमराई दीयो
ये वैसे राम नवाई
पहरातों विश्व समिंदर बुरना
परवत लोट दिया है
आगी जलावे पिता उसका
सत्व से राम रखावे
पानी मांहे गजकूं छोडे
सावज मार न भाई
उसको रन्यो कुटनी मुक्तो
करता राम सो वोही
मिराको बिख अमृत किया
फत्तर कू दूध पिलाया
*　　*　　*
ब्रह्मन सुदामा सून्नों की नगरी
वैसे करे जगदीश हिन्दी की मराठी सतों की देन से पृ० ३५५

जटा न कंथा सिंगी न शंख

अलख भेक हमारा बाबू

झोली न पत्र कान में मुद्रा

गगन पर देख तारा[1]

बाबा हमतो निरंजन वासी

साधू संत योगी जान लो हम क्या जाने घरवासी

माता न पिता बन्धु न भगिनी

गव गोत ओ सब न्यारा

काया न माया रूप न रेखा

उलटा पंथ हमारा बाबा

धोती न पोथी जात न कुल

सहजी - सहजी भेक पाया

अनुभवी पत्रि सी सिद्ध की खादी

उन नी ध्यान लगाया

बोध बल पर बैठा भाई

देखत है तिन्ह लोक

उर्ध्व नयन की उलटी पाती

जहाँ प्रकाश आनन्द कोटी[2]

संसार की निस्सारता, क्षणभंगुरता का वर्णन करती हुई वे कहती हैं कि यह दुनिया दो दिन की है, इसे व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिये, ईश्वर का नाम लेकर

---

[1] हिन्दी को मराठी संतों की देन मे संकलित गौलणी से

[2] हिन्दी को मराठी संतों की देन मे संकलित गौलणी से

ध्यान-धारणा करनी चाहिये, क्योंकि एक बार शरीर छूट जाने पर यहाँ दुबारा आना नहीं है। यहाँ पर बहिणाबाई पुनर्जन्म के सिद्धान्त का एक तरह से खण्डन करती हैं। भारतीय मनीषा में तो पुनर्जन्म एवं कर्मवाद का सिद्धान्त बहुत गहरे पैठा है एवं इस तथ्य का प्रतिपादन है कि अपने शुभाशुभ कर्मों को भोगने के लिये जीव पुनः जन्म लेता है, लेकिन यहाँ बहिणाबाई जीव को शीघ्रता करने को कहती हैं एवं उसका (अल्ला) का जिक्र (स्मरण) करने को कहती हैं। इस पद में बहिणाबाई उस परमतत्व के लिये अल्ला एंव कृष्ण दो शब्दों का प्रयोग करती हैं यहाँ एक तरह से सगुण एवं निर्गुण की ही एकता नहीं अपितु हिन्दू एवं इस्लाम इन दो धर्म साधनाओं का भी समन्वय है।

दो दिन की दुनीया ऐ बाबा
दो दिन की दुनीया।
ले अल्ला का नाम कूल धरो ध्यान
बंदे न होना तुम
गाव रतन से ही सार
नई आवेगा दूज बार
वेगी करो हे फिकीर
करो अल्ला की जिकीर
करो अल्ला की फिकीर
तव मिलेगा गामील पीर
बहिणी कहे तूजे पुकार
कृष्ण नाम तमे हुसियार[1]

---

[1] हिन्दी को मराठी संतों की देन में संकलित गौलिणी से पृ० ३५६,३५७

एक अन्य पद में भी उसी परमतत्व (साहेब) के प्रति निष्ठा एवं भक्ति का उल्लेख करती हुई कहती हैं कि तू ही एक मेरा सच्चा साहब है, मुझे किसी चीज की फिक्र नहीं, महल मुल्क की भी परवाह नहीं, अब तो मैने गोबिन्द की चाकरी पकड़ ली है, हे साहब! आपका जिक्र करते ही माया का पर्दा दूर हो गया और सारी वास्तविकता सामने आ गई।

सच्चा साहेब तूं येक मेरा
काहे मुजे फिकीर
महाल मुलुख परवा नहीं
क्या करूं पील पथीर
गोबिन्द चाकरी पकरी
पकरी पकरी तेरी
साहेब तेरा जिकीर करते
माया परदा हुवा दूर
चारों दील भाई पीछे रहते हैं
बंदा हुजूर
मेरा भी पन सट कर
साहेब पकरे तेरे पाव
बहिनी कहे तुमसे गोबिन्द
तेरे पर बलि जाय[1]

---

[1] हिन्दी को मराठी संतो की देन मे सकलित "गौलणी" से पृ० ३५४

संसार अनित्य है, अनृत है, निन्दक जनों से भरा है। संसार की नश्वरता एवं असत्यता को बहिणाबाई अनेक उदाहरणो से व्यक्त करती हुई कहती हैं--

ये अजब बात सुनाई भाई

गरूड़ को पंख हिरावे कागा

लक्ष्मी चरन चुराई

ये सूरज को बींब अंधोर

सोवे चंदर कू आग जलावे

राहू के गिहो भोगी कहा

अमृत ले मर जावे

कुबेर सोवे धन के आस

हनुमान जोरू मँगावे

वैसे सब ही झुटा है

निन्दा की बात सुनावे

समीदर तान्हों पीयत कैसो

साधु मॉगत दान[1]

काग गरुड़ के पंख एवं लक्ष्मी के चरण चुराये सूर्य का बिम्ब प्रकाश के स्थान पर अन्धकार फैलाये, चन्द्रमा द्वारा शीतलता फैलाने के स्थान पर स्वयं अग्नि उसे जलाये, राहु के सदृश भोगी कौन है, जो अमृत पिये और कट जाये,

[1] वही पृ० ३५१

कुबेर धन की आशा में संलग्न हो, हनुमान स्त्री की कामना करे, प्यासा समुद्र पी जाये और साधु दान माँगे, जैसे यह सारी बातें असम्भव हैं वैसे ही ये संसार एवं संसारी लोग झूठे है। संसारी जनों की निन्दा के प्रति जो आसक्ति होती है उसे अनेक गूढ़ उदाहरणों द्वारा बहिणाबाई ने समझाया है, जो इनके गहन "शास्त्रीय अध्ययन" का परिचायक है। वैसे यह पद कबीर द्वारा रचित उलटबासियों की तरह का है जहाँ कबीर अपनी उलट बासियों में यौगिक क्रियाओं, अनुभवों एवं अबोधगम्य क्रिया-व्यापारों को दुरूह शब्दावली में व्यक्त करते हैं, वहाँ बहिणाबाई सरल शब्दों के माध्यम से संसार की असत्यता ज्ञापित करती हैं। संसार की वास्तविकता जान लेने के पश्चात् इस दृश्य जगत के उद्धरणशील जिज्ञासु जनों को केवल एक सत्य का दिग्दर्शन कराती हैं, कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, जिसका जन्म हुआ है वह अवश्य मरेगा ये दोनों सहोदर के सदृश है जन्म के साथ ही मृत्यु का भी निश्चय हो जाता है,[1] यहाँ पर बहिणाबाई "श्री मद् भगवद्गीता में भगवान श्री कृष्ण के उद्घोष---

जातस्य हि ध्रवोमृत्यु ध्रुंव जन्म मृतस्य च।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ।।[2]

से प्रभावित जान पड़ती हैं। जीवन-मृत्यु के शाश्वत संबंधों को स्वीकार कर लेने पर मृत्यु का भय नहीं रहा जाता है,[3] ज्ञानी तो आत्मा की अमरता को

---

[1] काहे डारावत मोहे बाबा उपजे सो मर जाये भाई।
मरन धरन सा कोई बाबा जनम मरन ये दोनो भाई मोकले तन के साथ
हिन्दी को मराठी संतों की देन मे संकलित गौलणी से पृ० ३५४

[2] श्री मद्भगवद्गीता २ / २७

[3] मरन सो हक हैरे बाबा

जानता है और वह मृत्यु को अपने से दूर कर देता है, क्योंकि उसे उस अव्यक्त, अविनाशी का पता मालूम होजाता है एवं वहउसी पर अपने योग क्षेम का भार डाल देता है।

''ज्ञानी होवे तो समज लेवे

मरन करे आपे दूर

तारन हार तो न्यारा है रे

हकीम वो रहिमान'[1]

यहाँ पर भी बहिणाबाई कबीर के दर्शन से प्रभावित दिखाई देती है जहाँ कबीर कहते है--

हम न मरै मरिहै संसारा।

हमकू मिला जियावन हारा।।

इतना सब ज्ञात होने पर भी स्वयं को संतों की दासी कहती हैं, एवं अपने आराध्य से भाव भक्ति की भिक्षा माँगती हैं।--

भाव भगत मांगत भिक्षा

तेरा मोक्ष कीदर रहा दिखाई

बहिनी कहे मैं दासी संतन की

तेरे पर बलि जावे।[2]

मरन सो हक है-- गौलणी पृ० ३५४

काहे डरावत मोहे बाबा

[१] वही पृ० ३५४

[२] हिन्दी को मराठी संतों की देन में संकलित ''गौलाणी'' से पृ० ३५६

भगवान के कूर्म, नरसिंह, परशुराम, वामन, मत्स्य एवं वराह रूपों में अवतार का भी उल्लेख वे करती हैं[1] एवं यह भी निर्देश करती हैं कि स्वयं निर्गुण ब्रह्म ही श्री कृष्ण के रूप में अवतरित हुये हैं, केवल वे ही सत्य हैं[2]

बहिणाबाई के आराध्य देव श्री कृष्ण हैं। वही गोबिन्द हैं,[3] पूरन निरंजन[4] कृष्ण हैं[5], शाम हैं,[6] गोपाल हैं,[7] वनमाली हैं,[8] निरगुन हैं,[9] अल्ला है,[10] हकीम और[11] श्री रंग हैं[12] नन्द लाल,[13] ब्रह्मस्वरूप हैं।[14]

बहिणाबाई अपने आराध्य देव कृष्ण को ही अल्लाह, हकीम, रहमान भी कहती हैं, इस तरह वे एकेश्वरवाद की प्रतिष्ठा भी करती हैं कि परमतत्व एक

---

[1] कूर्म नरसिंव्ह रूप
फरश वामन रूप
मत्स्य ही वराह रूप
योही कृष्ण सत्य जी, वही पृ० ३५८

[2] योही --- ब्रह्म निर्गुण वाको नाम कृष्ण जी, वही ३५८

[3] बहिनी कहे तुमसे गोबिन्द, वही ३५४

[4] जमुना के तट आयके देखे पूरन निरंजनों, वही ३४८

[5] जय-जय कृष्ण कृपाला "हिन्दी को मराठी संतों की देन" मे संकलित "गौलणी" से पृ०-३५७

[6] कहत है शाम तुमारोदरशन वांक्षित
रात दिन सारी, वही पृ० ३४८

[7] जमुना के तट धेनु चरावत
गावत हैं गोपाल री, वही पृ० ३५३

[8] तब वरद मिलो वनमाली, वही पृ० ३५०

[9] मेरे पेट में प्रगटो निरगुन, वही पृ० ३५०

[10] करो अल्ला की फिकीर, वही पृ० ३५७

[11] हकीम वो रहिमान, वही पृ० ३५४

[12] ये ही कहत श्री रंग, वही पृ० ३५०

[13] सिर पर मोर पिता मोर दिखा नंदलाल ,वही पृ० ३५३

[14] सुत मत कहो नन्द ब्रम्ह सो येही गोबिन्द, वही पृ० ३५२

ही है चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारा जाये। साथ ही ''निरगुन'' एवं ''पूरन'' निरञ्जनों'' कहकर तुलसीदास के मत की प्रतिष्ठा भी करती हैं।

अगुन अरूप अलख आज होई।

भगति प्रेम वस सगुन सो होई॥[1]

गौलणी में ही अंत में उन्होंने ''ब्रह्म निर्गुणहिवाको नाथ कृष्ण जी''[2] कहा है। अतः उनके आराध्य देव सगुण - निर्गुण गोबिन्द - अल्लाह, नन्दलाल - हकीम - रहमान सब हैं, उनमें कोई भेद नहीं है। यहाँ पर शंकराचार्य और बहिणा का मत एक सा है, जहाँ शंकराचार्य

''सर्वदेव नमस्कारं केशवं प्रतिगच्छति '' कहते हैं वहीं बहिणा बाई--

सुतमत कहो नंद, ब्रह्म सो ये ही गोबिन्द

और

''ब्रम्ह निर्गुणहि वाको नाम कृष्ण जी

स्वरूप धाम वैकुण्ठ को जाग जी

कूर्म नारसिंव्ह रूप, फरश वामन रूप

मत्स्य ही वराहरूप, यो ही कृष्णसत्य जी''

सभी रूपों में उन्हीं की दिग्दर्शन करती हैं।

---

[1] रामचरित मानस

[2] हिन्दी को मराठी संतों की देन में गौलणी से पृ० ३५८

''गौलणी'' हिन्दी की रचना है, तथापि क्षेत्रीय प्रभाव के कारण मराठी पुट आ गया है -- उसकू, भतारो, हातो, जसवदा, शल के, डखबिखे, कुलपों, तूट, जीस, पालख, जानीये, रखीया, जिसकू, तुमकूं नंगाह, मुज, ताहां, बिज, शांती, बिहिन, जिवाकू, संगती, बींव, हलदिर, मय, मोकले, फत्तर, कीदर, जाण, पहरादों, मिरा, फरश, मनुख आदि पर यह प्रभाव परिलक्षित किया जा सकता है। तुसार, शास्तर चाकरी, पकरी आदि तद्भव रूप भी हैं। इसके अतिरिक्त फिकीर, समज, जिकीर, महाल, मुलुख, साहेब, दुवा, बंदा, हुजूर, गामील, पीर आदि अरबी, फारसी के भी शब्द हैं--

पूरी रचना में शान्त रस व्याप्त है। एक पद में अद्‌भुत रस एवं कहीं-कहीं वात्सल्य रस की भी झलक मिलती है।

छन्दों में मात्राओं का ध्यान नहीं रखा गया है, अलंकारों पर भी ध्यान नहीं दिखा गया है। वस्तुतः भावात्मकता की उच्च भूमि पर रचित इस रचना में कलात्मकता की खोज करना उस भाव दशा के साथ अन्याय है, जिसमें बहिणा बाई ने उक्त रचना की है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि बहिणाबाई न केवल वारकरी सम्प्रदाय की, अपितु संत परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान की अधिकरिणी हैं।

(५) देवी रूप भवानी

देवी रूप भवानी कश्मीर प्रान्त की संत कवयित्री हैं। कश्मीरी संत कवयित्री लालदेद की परम्परा में आने वाली वे दैवीय गुणों से सम्पन्न थीं। कश्मीरी पण्डित माधव जू दर के यहाँ १६२१ ई० में ज्येष्ठ पूर्णिमा के दिन देवी रूप भवानी का जन्म हुआ। दैवीय गुणों से सम्पन्न ये दुर्गा था सारिका (कश्मीर में दुर्गा इस नाम से प्रसिद्ध हैं) का अवतार कही जाती हैं। माधव जू धार्मिक एवं दार्शनिक तत्वों से अनुप्राणित थे अतः उनका अधिकांस समय इन्हीं कार्यो में व्यतीत होता था । वे ईश्वर की उपासना मॉ दुर्गा के रूप में करते थे ।

१६२१ की ज्येष्ठ पूर्णिमा को प्रातः वेला में उनके यहाँ एक कन्या का जन्म हुआ जिसका नाम उन्होंने "अलक्ष्येश्वरी" रखा जिसका अर्थ है अगोचर एवं अवर्णननीय, जी देवी के निराकार, अद्वैत स्वरूप का परिचायक है। अलक्ष्येश्वरी का बचपन आध्यात्मिकता के परिवेश में बीता अतः उनके दैवीय गुण अनुकूल परिस्थितियों में शीघ्र ही प्रस्फुटित होने लगे। उनके पिता माधव धू स्वयं उनके गुरु थे।

अलक्ष्येश्वरी का विवाह निकट के ही सप्रू परिवार में हुआ। उनके पति का नाम हीरानन्द सप्रू था। उनका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था। उनके पति और सास सोपकुञ्ज का व्यवहार उनके प्रतिकूल था, अतः उनका जीवन कष्टों से भर गया ।

अलक्ष्येश्वरी मध्यरात्रि में हरपर्वत पर माँ सारिका के पवित्र पीठ पर साधना के लिये जाती थीं। उनकी सास सोप कुञ्ज ने अलक्ष्येश्वरी पर मध्य रात्रि में घर से बाहर जाने का दोषारोपण करके पति को पत्नी के चरित्र पर शंका करने को विवश कर दिया। हीरानन्द ने एक रात्रि उसका पीछा किया। अलक्ष्येश्वरी ने पवित्र पीठ पर पहुँच कर हीरानन्द से भी साधना के लिये आग्रह किया लेकिन अपनी सीमा में संकुचित पत्नी के दैवीय गुणों से अनभिज्ञ हीरानन्द घर लौट आया।

दूसरी घटना भी उनके ससुराल से ही संबंधित है, जिससे हम उनके दैवीय गुणों का परिचय प्राप्त करते है। किसी त्योहार के अवसर पर माधव जी ने अपनी पुत्री के यहाँ खीर से भरा पात्र भेजा। अलक्ष्येरवरी की सास ने खीर को देखकर व्यंग्य से कहा "मै इस छोटे से पात्र की खीर का क्या करूँ मेरे इतने सारे संबंधी है, यह उनके लिये पर्याप्त नहीं होगी।" अलक्ष्येश्वरी ने उत्तर दिया आप जितने लोगों को देना चाहे खीर दें, लेकिन पात्र के अन्दर न देखें। सोप कुञ्ज ने पात्र से खीर उड़ेलना शुरू किया और जितने लोगों को वह जानती थी सबको दी, लेकिन खीर समाप्त नहीं हुई। अंत में क्रोध से भरी सोपकुञ्ज ने पात्र में झांक कर देखा तो पात्र में केवल कुछ अन्न कणों को पाया।

दूसरे दिन अलक्ष्येश्वरी ने पात्र को साफ करके वितस्ता नदी की लहरों में यह कहते हुये फेंक दिया, "मेरे पिता दिद्दमारघाट पर संध्या कर रहे है, जाओ और वहाँ रूक जाओ। पात्र वितस्ता नदी की और लुढ़कते हुये गया और माधव जू जहाँ संध्या कर रहे थे वहाँ रुक गया।

इस प्रकार की विलक्षण घटनाओं को अनेक बार देखते हुये भी सोपकुञ्ज ने अलक्ष्येश्वरी के प्रति अपना व्यवहार नहीं बदला। हीरानंद भी मूर्ख और अज्ञानी बना रहा अंत में जब वहाँ रहना दुष्कर हो गया तब अलक्ष्येश्वरी ने हमेशा के लिये पति का घर छोड़ दिया। ऐसा कहा जाता है कि सप्रू परिवार का वैभव इसके बाद शीघ्रता से नष्ट हो गया।

अलक्ष्येश्वरी ने अनन्त परमेश्वर की खोज के लिये पिता का घर भी छोड़ दिया। निर्जन एकान्त स्थान में वे साधना में तल्लीन होना चाहती थी। उन्होंने श्रीनगर के उत्तर पूर्व के एक स्थान को चुना जो अपने प्राचीन नाम ज्येष्ठ रुद्र के नाम से जाना जाता है। वहाँ पर उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या की। जब लोग उनकी तेजस्विता से आकृष्ट हो भारी संख्या में वहाँ पहुँचने लगे तो उन्होंने उसे भी छोड़ दिया। और उत्तर कश्मीर के एक गॉव मणिगॉव की ओर आई। वहीं निर्जन घने जंगल से युक्त पहाड़ी पर झोपड़ी बनाकर तपस्या में रत हो गई। यहॉ पर भी उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक तपस्या की। इस प्रकार उन्होंने निर्जन स्थान की खोज में अनेक स्थानों पर अपना निवास बनाया और छोड़ा। शाहकोल नदी के तट पर वे बहुत दिनों तक रही ओर तत्पश्चात "वासकोरा" में जहाँ नाग वासुकि ने तपस्या की थी, और भगवान शिव से उनके गले का हार बनने का वरदान पाया था, अपना निवास बनाया।

देवी रूप भवानी के जीवन वृत्त के साथ अनेक चमत्कारिक आख्यान जुड़े है। जैसे एक बालक जो जन्मान्ध था को उनकी कृपा से दृष्टि प्राप्त हुई और उनके भाई लाल जू का पुत्र जो कि निरक्षर था, को उन्होंने कलम पकड़ाई और वह शिक्षित व्यक्ति की तरह लिखने लगा।

वासकोरा में ही देवी भवानी ने वाल जू दर और सदानन्द मट्टू को काव्य रूप में आध्यात्मिक निर्देश दिये। ये काव्य रूप वाक् कहे गये और इनकी संख्या १४५ के करीब है।

अलक्ष्येश्वरी अपने भक्तों के अतीव आग्रह के फलस्वरूप श्रीनगर लौट आईं और "साफकदल" में रहने लगीं। १७२१ ई० की माघ मास की सप्तमी तिथि को उन्होंने यह मर्त्य शरीर त्याग दिया। उनके संबंधी और भक्त दाहसंस्कार के लिये शव ले जा रहे थे, रास्ते में ग्राम प्रधान मिला उसने पूछा किसका शव ले जा रहे हो, यह सुनकर कि ये रूप भवानी हैं वह आश्चर्य चकित हो उठा, क्योंकि वह अभी जिस रास्ते से आ रहा था उससे उसने रूप भवानी को नीचे की ओर जाते हुये देखा था। भक्तों ने कफन के नीचे झांककर देखा तो वहाँ केवल अलक (बालों का गुच्छा) और कुछ फूलों के अतिरिक्त कुछ नहीं था। अलक की आज भी बड़ी श्रद्धा से पूजा होती है।[1]

देवी रूप भवानी जैसा कि उनके जीवन वृत्त से स्पष्ट है कि दैवीय चरित्र थीं। जीव-ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा के वास्तविक और सापेक्षिक संबंध के रहस्यों से भलीभाँति परिचित थी। उनकी रचनायें उनके इस सत्य के साक्षात्कार का रहस्य उद्‌घाटित करती है। आत्मा का स्वरूप क्या है, यह आज भी तत्व वेत्ताओं के बीच गम्भीर चिन्तन का विषय है। इसी आत्मा का स्वरूप निर्धारण देवी रूप भवानी ने इन रचनाओं में किया है उनके अनुसार "आत्मा न तो बीज रूप है कि उसका वपन किया जाये, न जल रूप है न अग्नि रूप है, न वायु या आकाश

---

[1] देवी रूप भवानी का यह जीवन वृत्त कलकत्ता से प्रकाशित "प्रबुद्ध भारत के अप्रैल ९६ अंक में श्रीमती अपर्णा दर के लेख "द लाइफ ऑफ देवी रूप भवानी" से उद्‌धृत है।

रूप ही है, यह निःस्सीम है, सर्वव्यापी है। न तो यह ब्रह्माण्ड की ही प्रकृति है न केवल एक व्यक्ति की आत्मा में ही इसका स्वरूप सीमित है। आत्मतत्व शक्ति की एक प्रकृति है, मैं जो आत्म रूप हूँ वह परब्रह्म के साथ मिल कर एकाकार हो गया है।[1] आत्मा न पुरुष है न पौरुष, सभी तर्को और विमर्शो से परे है। जाति, वर्ण से परे वर्णातीत है। वह शान्त स्वरूप है और ध्यानावस्था मे स्वयं के अन्तर्मन में ही उसे प्राप्त किया जा सकता है। न वह सूक्ष्म है न उसका कोई विस्तार ही है, उसका कोई कार्य व्यापार भी नहीं है। वह प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर स्थित है। आत्मस्वरूप मैं परब्रह्म में लयमान हो गया हूँ और वह मैं ही परब्रह्म हूँ।[2] यह परब्रह्म होने का स्वीकार ही उनकी उस अद्वैतावस्था का परिचायक है, जिसमें आत्मतत्व-ब्रह्मतत्व में समाहित हो जाता है। वे आगे लिखती हैं, न वह स्थावर है न जंगम है, न चारों वर्णों (ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र) में सीमित है। वह विश्व के चराचर प्राणियों तक सीमित नहीं है, समस्त सृष्टि रचना का परम कारण है। न वह सत्य से न असत्य से परे है फिर भी दोनों में समान रूप से उपस्थित है। सूक्ष्म समाधि में आत्मा का साक्षात्कार होता है और यही आत्मतत्व परब्रह्म है।[3] आत्मा न योग में है, न

---

[1] बूयो न बीजम् तूयो न तीजम्।
वायो न आकाशं अथाह सर्वसर्वम।।
नहि ब्रह्माण्ड नच खात्म आत्मम्।
शक्ति स्वरूपम् परं ब्रह्म सोऽहम।।
कलकत्ता से प्रकाशित अंग्रेजी पत्रिका प्रबुद्ध भारत के जुलाई ९६ अक मे श्रीमती अपर्णा दर के लेख "टेन वर्सेस ऑन द डिवाइन इक्सपीरियेन्स ऑफ देवी रूप भवानी" से उद्धृत पृ० ४२९

[2] पुरुषो न पुरुषात् विमर्शो न मर्शात।
वर्नातीतो शान्त अन्दर् आकाशाम्।।
सूक्ष्मो न विस्तार न पर व्यापारम्।
सु अन्तदारम् परं ब्रह्म सोऽह्म्।। प्रबुद्धभारत जुलाई ९६ पृ० ४२९

[3] थावर न जंगम नह् चतुर्वर्णम्
जग न चराचर तथ् परमकारम्

योगान्तर में और न संन्यास में ही उसका निवास है। तीनों अवस्थाओं (जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति) के पश्चात तुरीयावस्था में आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है। आत्मा प्रसिद्ध भी है। आत्मस्वरूप कल्पनातीत है। वह सृष्टि का परम कारण है। वह स्थिर है, वह केवल एक है। मैं वही आत्म तत्व हूँ जो परब्रह्म में लयमान हो गई हूँ।[1] आगे आत्मा का स्वरूप निर्धारण करती हुई वे उसे सभी सांसारिक संबंधों से परे मानती हैं। वे कहती हैं–'आत्मा के न माता है न पिता है न भाई है न बंधु बांधव। वेदों में आत्मा को एक और अकेला कहा गया है। मैं वहीं आत्मतत्व हूँ। न कोई उसका गुरु है न शिष्य है, न किसी मन्त्र से वह जाना जाता है। न उसकी कोई लीला ही है ऐसी यह अद्वितीय आत्मा अकेली है, मैं वहीं आत्मतत्व हूँ जो परब्रह्म में लयमान हो गई हूँ।'[2] आत्मा सभी विकारों, सभी व्याधियों और सभी स्थितियों से परे है इस सत्य का उद्घाटन करती हुई देवी रूप भवानी कहती है–

मोहो न व्यादि नच वैराग्यम्
नच राग द्वीषम् निवेरं शान्ति
सोपुन् न जागथ् सु शोद बोदम्
सूख्मो स्वयंभू परं ब्रह्म सोऽह्म्॥[3]

सथ् न असथ अछिन्नदारम्
सूख्मो समाधि परं ब्रह्म सोऽह्म्॥ प्रबुद्ध भारत के जुलाई ९६ अंक से पृ० ४३०

[1] योगु न योगान्तर सन्यास वर्णम्।
तुरीया अतीता तथ् प्रसिद्धोहम।
अचिन्त्य रूपं तथा परम कारम्।
थ्यर, केवलोऽहम परंब्रह्म सोऽह्म्॥ प्रबुद्ध भारत के जुलाई ९६ अंक से पृ० ४३१

[2] माता न पिता व्राता न बन्दु।
वार्ता स वेदम् एको केवलोऽह्म्।
गोरू न चेला मत्रों न लीला।
सु युस् अकेला परंब्रह्म सोऽह्म्॥ प्रबुद्ध भारत के जुलाई ९६ अक से पृ० ४३१

[3] अंग्रेजी पत्रिका प्रबुद्ध भारत के अगस्त ९६ अंक से उद्घृत पृ० ४८०

अर्थात् आत्मा राग-द्वेष, मोह, माया इत्यादि व्याधियों से मुक्त है, वह वैराग्य से भी मुक्त है। उसका कोई वैरी नहीं है। वह शान्त स्वरूप है, वह न सोती है न जागती है। वह शुद्धबुद्ध स्वरूप है, वह सूक्ष्म है, स्वयंभू है, मैं वहीं आत्मा हूँ जो परब्रह्म में लीन हो गई है। आत्मा न वृक्ष रूप है न बीज रूप है, न उसका चतुर्भुजाकार स्वरूप ही है। आत्मा तीनों विश्व (आकाश-पाताल-पृथ्वी) में व्याप्त है, चर-अचर प्राणियों में व्याप्त है। इस तरह आत्मा के अनन्त रूप हैं। आत्मा का कोई नाम भी नहीं है और उसके सहस्त्रों नाम भी हैं। आत्मा का कोई आधार भी नहीं है, वही शुद्ध स्वरूप परब्रह्म रूप आत्मा मैं हूँ।[1] आत्मा न सीधी है न टेढ़ी है, न वह अविद्या है न विद्या है। ऋद्धि सिद्धि से भी परे है। उसका आकार आकाश की तरह सर्वव्यापी है। आत्मा न तो आकाश में ही और न पृथ्वी में ही बीज रूप में बोई जा सकती है। न इसे राज योग से ही जाना जा सकता है। आत्मा न सालंब है न निरालंब है, मैं वही परब्रह्म रूपी आत्मतत्व हूँ।[2] आत्मा न रूप है, न रस है, न स्पर्श है, न गन्ध है, और न शरीर ही है। न द्वैत भाव में है, न किसी का दास ही है, 'अहम' रूप में वह केवल एक ही है। आत्मा के बिना न जीवन है, और न जीव ही, न वार्त्ता है न वार्त्ताकार ही, वह सभी कार्यों का कर्त्ता है, सभी कार्यों का नियन्ता है, वही कर्त्ता रूपी ओंकार स्वरूप परब्रह्म

---

[1] पादप न बीजम् न चतुर्बुजाकारम्।
सु त्रे-जग चराचर अनन्तरूपम्।
अनाम सहस्रनाम किन्तु निरादारम्।
शुद्धं स्वरूपं तथ परं ब्रह्म सोऽहम्।। प्रबुद्ध भारत के आगस्त ९६ अक से उद्घृत पृ० ४८०

[2] स्यदू न कजू अविद्या न विद्या
रेद्धी न स्यद्धी न सुआकाश रूपम्
बोवा काश वोलगिथ् नच राज यूगम्
न सालव नैरालंब परब्रह्म सोऽह्म्।। प्रबुद्ध भारत के अगस्त ९६ अक से उद्घृत पृ० ४८०

मैं हूँ।[1] ब्रहम का साक्षात्कार होना एक आनन्दमय अवस्था है और इस आनन्दावस्था को आत्मतत्त्व कैसे प्राप्त करता है इस तथ्य का उद्‌घाटन करती हुई देवी रूप भवानी का कथन है कि "इड़ा, पिंगला नाड़ियॉं आत्मस्वरूप को नहीं पहचान पाती जब ब्रह्म नाड़ी (सुषुम्ना) जाग्रत होती है तभी ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। मैं स्वयं वह उपाय हूँ जिससे सुषुम्ना जाग्रत होती है। आत्मा अनाहत है, विकाररहित (अनामय) है, तुरीयावस्था में इसका साक्षात्कार होता है, यही आनन्दावस्था है और मैं वही आनन्दस्वरूप आत्मतत्व हूँ।[2] आत्मतत्व की विवेचना के पश्चात अब वे ईश तत्व (ब्रह्म) के स्वरूप का विचार करती हैं। उनके अनुसार "ईश्वर ब्रह्माण्ड का नियन्ता है और हमेशा अपने सहज स्वरूप में स्थित रहता है। सभी दिशाओं, सभी स्थानों में व्याप्त है। सबसे निकटस्थ सुहृद है, गंभीर चिंतक है। वह असीम शक्तिमत्ता से युक्त है, स्वभाव से अकेला है। वह स्वयं ही उत्पन्न होने वाला है, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उसका स्वरूप व्याप्त है। ऐसे ईश्वर को साधक अपने अन्तर्मन में ही देख सकता है और तत्पश्चात मुक्ति के रहस्य को जान लेता है और परमगति को प्राप्त हो जाता है।[3] वह ईश्वर (ब्रह्म) सर्वरूपमय है, सर्वव्यापी है। यही सर्वरूपता और सर्वव्यापकता का

---

[1] रूपं न रसं न स्पर्श गन्द देहू।
दुयी न दयस् छु केवलोऽहम्।
जीवो न जीवात् वार्ता न वार्तात्
कर्त्ता सु ओकांर पर ब्रहम सोऽह्म्।। वहीं पृ० ४८१

[2] इडा न पिंगला सच ब्रह्मनाड़ी।
स्वयं सु उपायां सुषुम्ना अहमेव।
अनाहत अनामय सुतोरियावस्था।
आनन्द पद सु परं ब्रह्म सोऽह्म्।। वहीं पृ० ४८१

[3] सहज सर्वत्र व्यापी स्वाह्लेथ विचारेयम्।
बाहुबल स्वभाव ईकान्त स्वयबू परमाकारी
अन्तरमोखी द्रेष्टी नेरवान रहस्य तती परमगती। अंग्रेजी पत्रिका प्रबुद्ध भारत के मई ९६ अंक में श्रीमती अपर्णादर के लेख "देवी रूप भवानीस टेनवर्सेस आन निर्वाण" से उद्‌घृत पृ० ३२७

ज्ञान मुक्ति की परमगति प्रदान करने वाला है। वह जड़ चेतन सबमें एक समान रूप से गतिमान हैं। वह सर्वशक्ति मान सत्ता सभी प्राणियों की भूख और प्यास को तृप्त करती है। वह जड़ चेतन सभी को पूर्णता प्रदान करता है। वह समर्थ स्वामी यह निश्चित करता है कि आत्मा कब आत्मसाक्षात्कार करे।[1] उपनिषदों में इस अविनाशी कल्पतरू (ईश्वर) और उसके दैवी फल की विवेचना की गई है। वास्तविक रूप में वह सद्गुरु है जो योगी रूप धारण करके ईश्वर के साथ एकात्मकता का उपदेश देता है। वह सृष्टि का आदि कारण है। लेकिन अशरीरी है। वह तेजस्वी ईश्वर असंख्य वाणियों वाला है। (प्रत्येक जीव की वाणी उसकी वाणी है और सबकी वाणी भिन्न है इस प्रकार वह अनेक अनेक वाणियो वाला है।) वह सुशील है, सुदर्शन है, निरायु है, अग्रायु है (वह सृष्टि के पूर्व से अस्तित्ववान है अतः अग्रायु है।) सैकड़ों सूर्यों से अधिक दैदीप्यमान है, प्रसन्न मना है। ऐसे ईश्वर के साधक अन्तर्मुखी होकर अन्तर्मन में देख सकता है, और मुक्ति के रहस्य को जान सकता है।[2]

ईश्वर के स्वरूप का ज्ञान पवित्र नेत्रों से ही हो सकता है, इसीलिये वे उसे ध्यानस्थ होकर पवित्र नेत्रों से स्वयं के अन्तर्मन में ही देखने को कहती है, और ऐसा द्रष्टा आध्यात्मिक धन प्राप्त करता है। असंख्य कार्यों को करने योग्य

---

[1] तथ रूपमयी तथ् परमगती सर्वथानी प्रवाही
गतिगटपूरनी छद्दा देह त्रेपितम्
समरथ स्वामी परमारथ विदानम
अन्तरमोखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्य तती परमगती, वही पृ० ३२८

[2] उपनेषद् परिजाता अखेय फल एक
अरथी सद्‌ग्वर योगी अदेहो पुरानम्
वहु तीज वाणी सुशीलम् सुदरशन्
निरायु अग्रायु परम दीप बानो प्रसन्नो
अन्तर गोखी द्रेष्टी नेरवान रहस्य तती परम गती। वही पृ० ३२८

हो जाता है। वह राजयोगी होकर सभी वस्तुओं का दाता और सभी जीवो का पिता हो जाता है। सभी आकांक्षाओं को पूर्ण करने में समर्थ हो जाता है।[1] आत्मतत्व और ब्रह्मतत्व का साक्षात्कार कुण्डालिनी शक्ति के जाग्रत होने के पश्चात् होता है। कुण्डलिनी शक्ति का स्वरूप और वह कैसे जाग्रत होती है इस संबंध में देवी रूप भवानी का कथन है कि, "शुद्ध प्रयासों से साधक मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में समर्थ होता है। यह शक्ति मण्डलाकार और गौरवर्णी है। मुक्ति की शुद्ध कामना से सूक्ष्म प्रयासों से गहन ध्यानावस्था में जागतिक कार्यों एवं प्रपञ्चों से विरत होकर साधक कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर षट्चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध आज्ञा) का भेदन करके सहस्रार में शान्त अवस्था में ध्यानस्थ होता है। वहाँ तुरीयावस्था में ईश्वर (ब्रह्म) से उसका साक्षात्कार होता है। ये परमतत्व से मिलन की बड़ी आनन्दमयी अवस्था है।[2]

आत्मस्थ व्यक्ति ही निर्वाण का रहस्य प्राप्तकर सकता हैं आत्मस्थ व्यक्ति का परिचय देवी रूप भवानी इस प्रकार देती हैं– सांसारिक रिश्तों नातों से उदासीन, हर स्थान में स्वयं के अतिरिक्त कुछ और नहीं देखता है। विश्व के सृष्टि, पालन और संहार तीनो नियमों से परे है। उसका केवल आत्मसत्ता में

---

[1] पवितूर नेथूरं पश्यूत मोखी अन्तर
वाहो बहुदनाड़ी असंख्य काम करतू
यिहोय राजयूगी दाता पिता सुय
सर्व कांख्या सु अर्थ पूरनी
अन्त गोखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्य तती परमगती। वही पृ० ३२९

[2] शुद्धयोक्त मूलाधारी कुण्डली मण्डली गौरी
सेद अरथ सूक्ष्म सोष्पती चखूर विरख्त शान्तादारी
ईश्वरी तोरियातीत परमानन्दी नेतिस्तस्थी
अन्तरमोखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्य तती परमगती। वही मई ९६ अंक से पृ० ३२७

विजय हो जाता है। वह न कुछ देखता है, न किसी बंधन में बंधता है। वह कुछ जानता भी नहीं है, प्रसन्नमन रहने वाला है। स्थितप्रज्ञ की स्थिति में होकर वह शुद्ध आत्मस्थ और अविनाशी ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करता है।[1] ऐसा आत्मस्थ मुक्त सन्त न तो रूद्राक्ष धारण करता है न कोई मन्त्र ही उच्चरित करता है। न उसकी कोई इच्छा शेष रह जाती है और न वह जाति गोत्र के नियमों में बंधा रहता है। न उसकी कोई वंशावली होती है, न वह किसी प्रकार की पूजा ही करता है। वह हमेशा महाआनन्द में रहता है। उसकी प्रज्ञा हमेशा आज्ञा चक्र में रहती है और इसी कारण वह समस्त संसार में अपनी व्याप्ति महसूस करता है। नाद बिन्दु के रहस्य से परिचित ऐसा सन्यासी स्वयं को जीत लेता है।[2] ऐसे मुक्त सन्त की न पत्नी होती है न पुनः जन्म ही होता है। सभी कर्मो से रहित उसका स्वभाव भस्म की तरह शान्त और आकार रहित होता है। वह शारीरिक चेतना से परे समाधि में रत रहता है। हमेशा आनन्दमय स्थिति में रहता है। वह बिना किसी लगाव के हमेशा सावधान रहता है वह निष्काल, निराकर ब्रह्म में तल्लीन रहता है।[3] मुक्त सन्त अहं और मोह का त्याग कर देते

---

[1] नेरलजा रमनू पर रूफ निदारा
खेष्ठ थेथ संहारी वेलय् चेथ
अद्रेष्टो अग्रन्थो निजानो प्रसन्नो
आदिदीव तथ निहानो नेष्कल थेररूफ
अन्तर मोखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्यतती परमगती। प्रबुद्धभारत जून ९६ अंक ''देवी रूप भवानीस टेन वर्सेस ऑन निर्वान'' पृ० ३९७

[2] लुद्र व वुच्चा न आसा न गुत्री न बाशी
न कुली न क्रेत्यं महानन्द रूपम्
शेयुम् थान वासी आदि सर्व मध्य
जिता संन्यासी न बेउन बेन्द नादी।
अन्तर मोखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्य तती परमगती।।वहीं जून ९६ अंक पृ० ३९७

[3] न जाया न जन्मो दग्द कर्मकाण्डी
यथा शान्त बस्मी अरूपा स्वरूप्
सु सर्व सोखी अदेहो समादि

हैं। जन्म मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर परमसत्ता में पूर्णतया लयमान हो जाते हैं। यहः मिलन कमल के पत्ते पर पड़ी जल की बूँद के सदृश नही होता वरन् आकाश के मध्य में वृक्ष के अस्तित्व की तरह अकाल्पनिक हैं। वर्णन की सभी सीमाओं से परे जो ब्रह्म है उसकी कौन सी वाणी व्याख्या कर सकती है, अर्थात् नहीं कर सकती उसकी साधना का फल केवल आत्मिक ज्ञान प्राप्त करना हैं। वह कभी-कभी पत्थर से भी कठोर और कभी-कभी जल से भी तरल हो जाता है। कभी-कभी अग्नि से भी अधिक तप्त हो जाता है कभी भस्म से भी अधिक शान्त हो जाता है विस्मयाकुल होकर वह दैवी चेतना में निवास करता है उसके ध्यान में समस्त दृश्यमान विश्व का अस्तित्व है।' वेद वाक्यों के अर्थों को अमृत नदी के जल की भाँति पीकर (आत्मसात करके) तृप्त हो जाते है। ज्ञान की विविध धारायें उसमें उसी प्रकार समहित होती है जैसे पूर्ण चन्द्र में उसकी सोलहों कलायें। वह पण्डित है, समदर्शी है, जगदगुरु है अनन्त प्राणियों में पूजा के योग्य है।'

अमोह सावदानं तथ् निष्कल निराकारं
अन्तर मोखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्य ततीपरगती।। वही जून ९६ अक पृ० ३९८

१ अहं त ममता गालिथ थेथ प्रेलय ना आसे
युथ ना आसे मीलिथ् कवलदल जल बेन्द
मध्य आकाशी कदाचित ब्रेछ ना आसे
लंगि न तु क्या वाचे फला रस ग्येनी

शेला जल संग अगुनदाह बस्मो
राद तैय पसमु सर्व अन्तर् सेष्टी
अन्तरमोखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्यतती परमगती पृ० ३९८

२ वीदवाख अर्था अम्रेत नदी संप्रीता
अनीख प्रवाही सगनय् षोडश चन्द्र कल्
स पण्डिता समदर्शयग्नी अरचनीदीव
सु नेरमल तोत्री सथ तव पाठि
सर्वत्र जगद् ग्वरू सीवा अनन्त पूजनी एक
अन्तर्मुखी द्रेष्टी नेरवान् रहस्य तती परमगती।। वही पृ० ३९९

इस प्रकार आत्मा, ब्रह्म और आत्मस्थ व्यक्ति के स्वरूप की विवेचना करके देवी रूप भवानी ने स्वयं के दृष्टिकोण का परिचय दिया है। आत्मा-परमात्मा के विवेचना विषयक सिद्धान्तो से परे उनका अपना विलक्षण सिद्धान्त है जिसमें होने और न होने की दोनों परस्पर विरोध मूलक स्थितियो की कल्पना है। उनका आत्मतत्व ब्रह्मतत्व से अलग नहीं है। उससे अलग उसका कोई अस्तित्व भी नहीं हैं वह केवल ब्रह्माण्ड तक भी सीमित नहीं है। ब्रह्माण्ड से परे भी उसका अस्तित्व है। उसका अनुभव आनन्द का अनुभव है। वे अपना यही साक्षात्कारित सत्य लोगों के सम्मुख पद्य रूप में उद्घाटित करती है।

अत्यन्त सहज सरल भाषा में वे इतना गहन ज्ञान मनुष्य मात्र को प्रदान करती है, ऐसा लगता है वे बहुत पास बैठकर अपने बच्चों को सृष्टि के रहस्यों से परिचित कराती है।

(६) बयाबाई

हिन्दीतर प्रदेश की संत कवयित्रियों की चर्चा करते समय महाराष्ट्र प्रदेश की "बयाबाई" नामक संत कवयित्री विशेष उल्लेखनीय है। ये समर्थ रामदास की शिष्या थीं। समर्थ रामदास का समय बयाबाई का भी माना जाना चाहिये।

बयाबाई का उल्लेख आचार्य विनय मोहन शर्मा ने अपनी पुस्तक "हिन्दी की मराठी सन्तों की देन" में किया है। इसमें उनके जीवन के किसी भी तथ्य का परिचय दिये बिना उन्होंने उन्हें केवल समर्थ रामदास की शिष्या के रूप में उल्लिखित किया है।

"ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया" में 'संकलित' निबन्ध "ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र में डा० कमलाबाई देशपाण्डे ने वेणाबाई (Venabai) नाम की एक स्त्री संत का उल्लेख किया है। इनका परिचय देते हुये उन्होंने कहा है कि "ये रामदास की शिष्या और बहिणाबाई की समकालीन थीं। वे एक ब्राह्मण परिवार में जन्मी थीं और बाल विधवा थीं[1] एक अन्य सन्त कवयित्री अक्काबाई के वर्णन प्रसंग में भी डॉ० कमला बाई देशपाण्डे ने वेणावाई का उल्लेख किया है, और कहा है कि "जब भी लोग रामदास की स्त्री शिष्याओं के बारे में बात करते हैं तो वेणाबाई के साथ अक्काबाई का नाम भी अवश्य लिया जाता है।"[2] कहने का तात्पर्य यह है कि "वेणाबाई" बहुत प्रसिद्ध संत कवयित्री रही होंगी क्योंकि,

---

[1] ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया पृ०-३५३

[2] वही पृ०-३५३.

महाराष्ट्र प्रदेश भी संत कवयित्रियों का वर्णन करते समय महदम्बा, मुक्ताबाई, जनाबाई, कान्हूपात्रा, बहिणाबाई, अक्काबाई के साथ डा० कमलाबाई देशपाण्डे ने वेणाबाई का भी उल्लेख किया है, जबकि हिन्दी में महाराष्ट्र प्रान्त की संत कवयित्रियों के वर्णन प्रसंग में अन्य संत कवयित्रियों के साथ वेणाबाई का नामोल्लेख न होकर बयाबाई का उल्लेख मिलता है। हिन्दी को मराठी संतों की देन, महाराष्ट्र संत कवयित्री, और हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉ में बयाबाई का ही उल्लेख है, वेणाबाई का नहीं। कुछ तथ्य ऐसे है जिनके आधार पर हम दोनों कवयित्रियों को भिन्न न कह कर एक ही कह सकते हैं।

(१) दोनो का समय एक ही है।

(२) दोनों समर्थ रामदास की शिष्या हैं।

(३) हिन्दी में बयाबाई के अतिरिक्त वेणाबाई का उल्लेख न होना सन्देह उत्पन्न करता है।

(४) दोनों की गुरु के प्रति ऐसी उत्कट भावना है कि दोनों लोक निन्दा का पात्र बनती हैं।

"बयाबाई की रामदास पर अपरम्पार भक्ति थी, इतनी अधिक कि किसी पतिव्रता स्त्री की अपने पति पर भी न होगी। संभवतः इसी कारण लोगों को

फब्तियॉं कसने का अवसर मिला हो। वे प्रेम में इतनी भूली-भूली दीख पडती है कि अपने गुरु को "भाई" तक से संबोधित कर बैठती हैं।[1]

वेणाबाई रामदास की हर कीर्तन सभा में उपस्थित रहती थीं, और उनसे इतना अधिक प्रभावित हुईं कि लोक निन्दा का पात्र बनी। उनके माता-पिता उन्हें इस रास्ते से हटाने की बहुत कोशिश करते है। परिवार की प्रतिष्ठा पर ऑंच न आये, अतः उन्हें विष देने का उपक्रम भी होता है।[2] (Ramdas was there, and this Kirtana was drawing crowds. Venabai attended them and was so much charmed with him that scandal spread. Her parents tried her to dissuade her from her path, but in vain. In their anxiety to save the good name of the family they are said to have poisoned her)

(५) दोनों का अपने गुरु के मत के प्रचार के लिये भ्रमण (यात्राओं) का प्रसग उल्लिखित है।

"महाराष्ट्र संत कवयित्री" में स्वयं बयाबाई की कविता का एक अंश उद्घृत है-

रामदास गुरु उनकी दासी।

दास वचन फिरे देस विदेसी।।

---

[1] हिन्दी को मराठी सतो की देन से पृ० - १९२

[2] ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया पृ०- ३५४.

मैं रामदास गुरु की दासी हूँ और रामदास के वचनों को देश विदेश में घूमकर फैलाती रहती हूँ।

"ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र" की लेखिका डा० कमलाबाई देशपाण्डे ने भी यही तथ्य प्रस्तुत किया है। "उन्होंने अपने गुरु की सेवा की और छः साल तक कीर्तन और पुराणों को सुनकर स्वयं को शिक्षित किया। कवित्व के गुण जो उनमें प्रसुप्त थे, जाग गये और अब वे कविता करने लगीं। उनकी योग्यता को देखकर उनके गुरु ने उन्हें कीर्तन रचने की आज्ञा दी और उन्हें मिरज भेजा, जिससे उनके सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार हो सके।[1]

(She left her people and followed Ramdas as his disciple. She served her guru, and educated herself by listening to Kirtana and Purana for six years. The germs of poetry that was dormant in her now flowered, and she began to compose. Seeing her ability, her guru admitted her to his order, allowed her to perform Kirtans and sent her to Miraj to lay the foundation of a monastery for the spread of his cult.)

ये उद्धरण उनकी कवित्व प्रतिभा और उस प्रतिभा के कारण गुरु द्वारा उनके मत के प्रचार के योग्य समझी गई बयाबाई के भ्रमणशील व्यक्तित्व के परिचायक हैं।

उक्त तथ्यों के आधार पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि दोनों (बयाबाई और वेणाबाई) संत कवयित्रियाँ भिन्न न होकर एक ही हैं।

---

[1] ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र पृ०- ३५४

बयाबाई ने कितनी मात्रा में कवित्व रचना की है यह अभी बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि संकलन न हो पाने के कारण मौखिक रूप में यह बहुत दिनों तक सुरक्षित नहीं रह पाते हैं और संभवतः यही इनके साथ भी हुआ है। हिन्दी और मराठी दोनों में इनके कुछ पद मिलते है या ये कहें कि इनकी भाषा का स्वरूप बहुत कुछ दोनों भाषाओं के मिश्रण से बना है। अभी तक इनके पॉच पद प्राप्त हैं जो निम्नलिखित हैं-

(१) क्या कहूँ के गुरुनाथ की बात में (मैं)
मस्त भया है दिल मेरा रंग में
लाल रंग में सफेद खुला है।
कोई नहि जाने आपे भुला है।
जब सद्‌गुरु के पग लीन होन
रामदास गुरु पथ की दासी।
दास बया फिरे देस विदेसी।[1]

(२) अल्ला है बेफिकीर में कहाँ जावो रे।
जाहाता बोहि खड़ा येहि मेरे नैना रे।
नजर के सदर में खल्के हजर होरे।
रात दिन जाहा नही सोहि खुदा पायो रे।
जी लिया जान लिया मेरा मुजा का नही।

[1] हिन्दी को मराठी संतों की देन से पृ० - १९०

जब तो बेयान छुवा आज, कछ सुनता नहि रे।

पल-पल के खेल न्यारे जिसके हजारो हुवे,

रंगातीत मेरा साई दास बया को मिलारे।[1]

(३) जायो (जाओ) सखी री जहाँ गुरु बैठा ।

जिसके दिल में येहि जग बैठा ।। ध्रुवपद ।।

बाग रंगेला महल बना है।

इस झुलने पर झुलो रे भाई।

जनम मरन की झूल न आई।

दास बया कहे गुरु भैया ने ।

मुझ कू सुलाया सोहि झूलने ।[2]

(४) ध्याइये गुरु पग अधमोचन । सुखदायक भवाब्धितम ।

चिद् गगन में आसन खूला । जापर सद्गुरु राज रमीला।।

सूर्यचंद्र वो दिवटि जलत है

जब देखा तब डूब गई तन ।।

जाकी सत्ता जग मों भरि हैं जो देखी तहाँ ढाह रही है,

सो सद्गुरु किरिपा सो मिलती, सब छॉड के पग जा सरन।[3]

---

[1] हिन्दी को मराठी संतो की देन पृ०- १९१

[2] वही पृ० - १९२.

[3] वही पृ०- १९२

(५) लिखा पढ़ा कछु नहि आवे,

अंतकाल में सबही जाये।

जोरू लड़के महल मजालस,

यहाँ रहती फेरे आपत्ति जाना।

दिल मेहर मिल गया दिल को,

तारनहारा गुरु है सबको

दास बया कह कछु नही देखा,

जब देखा तब उलटा नयन।[1]

बयाबाई की अपने गुरु पर आगाध श्रद्धा है और ये श्रद्धा उनके प्राप्त पदो में अभिव्यक्त भी हुई है। उनका मन गुरु के रंग में रंगकर सराबोर हो गया है। गुरुः उन्हें ह्रदय के हिंडोले पर बैठा कर झुलाते हैं और वे भाव विभोर हो कह उठती हैं-

दास बया कहे गुरु भैया ने।

मुझ कू सुलाया सोहि झूलने ॥

उनके गुरु के चरण पाप विनाशक हैं। संसार रूप अंधेरे में सुख देने वाले हैं। उनकी दृष्टि में सूर्य चन्द्र का प्रकाश है और जब उस दृष्टि का वास्तविक

---

[1] हिन्दी को मराठी संतो की देन पृ०- १९२

स्वरूप उन्हे दिखाई देता है तो उनका तन मन सब डूब जाता है, अत वे सब कुछ छोड़कर गुरु के चरणों में शरण लेने को कहती हैं।

संसार की नश्वरता का उल्लेख करते हुये वे मानव मात्र को आगाह करती हैं कि एक दिन सब कुछ नष्ट हो जायेगा, अतः सांसारिकता से विरत होकर गुरु जो तारनहार है, जो दिल को दिल से जोड़ने वाले है, से ही संबंध रखना उचित है।

उक्त पदों के आधार पर उनकी गुरु के प्रति भक्ति भावना बहुत कुछ स्पष्ट हो जाती है। इस भक्ति भावना का सबसे बड़ा गुण आत्मविभोरता है, उसी आत्मविभोरता की स्थिति में आत्मस्थ होने-

बाग रंगेला महल बना है

इस झुलने पर झुलो रे भाई ।

का उपदेश देकर संसार की वास्तविकता का तथ्य भी उद्घाटित करती है। बयाबाई की भाषा के संबंध में आचार्य विनय मोहन शर्मा का मत है, "बया की हिन्दी में बहुत कुछ स्वच्छता है मुस्लिम प्रभाव से जनता में अरबी फारसी का प्रचलन हो गया था। कवि भी उन्हें अपनी रचनाओं में प्रयुक्त करने लगे थे। इसके अतिरिक्त बयाबाई ने उत्तर भारत के नगरों की यात्रा की थी। जहॉ विदेशी

शब्दों का चलन लोकभाषा में महाराष्ट्र की अपेक्षा अधिक था अतः बया की भाषा में मिश्रण स्वाभाविक है।[1]

यद्यपि उनकी बहुत कम रचनायें उपलब्ध हैं तथापि प्राप्त रचनाओं के आधार पर उनकी गुरु भक्ति, साधना पद्धति का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

बयाबाई संत काव्य परम्परा में अद्धितीय स्थान की अधिकारिणी हैं। तत्कालीन परिस्थितियों में जबकि देश अज्ञानता के चंगुल में ग्रस्त था, विदेशियों एवं स्वयं के आन्तरिक युद्धों की विभीषिका झेल रहा था, ऐसी साहसी महिला के रूप में बयाबाई सामने आती हैं, जो ज्ञान प्राप्ति के लिये न केवल अपना घर-बार त्यागती हैं, अपितु अपने गुरु के मत के प्रचार-प्रसार में भी अमूल्य योगदान देती हैं। संतकाव्य परम्परा में उनका स्थान अछुण्ण है।

1 हिन्दी को मराठी संतो की देन से - पृ० - १९३

(७) जनाबाई

भक्तिमती जनाबाई महाराष्ट्र की संत कवयित्रियों में अपना अद्वितीय स्थान रखती हैं। ये ज्ञानेश्वर की समकालीन थीं। भक्तप्रवर नामदेव जी के घर का कार्य करने वाली दासी थीं। ये नामदेव जी के पिता द्वारा पालित पोषित कही जाती है। इस संबंध में एक प्रसंग ''ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया'' के अन्तर्गत संकलित निबन्ध ''ग्रेट हिन्दू विमेन इन महाराष्ट्र'' में उल्लिखित है। ''पण्ढरपुर के मन्दिर की सीढ़ियों पर एक लड़की बैठी रो रही थी। दामा शेट्टी जो एक दर्जी थे, ने लड़की की पीठ थपथपाते हुये पूछा, ''बेटी तुम क्यों रो रही हो। तुम्हारे माँ-बाप कहाँ है? लड़की ने उत्तर दिया, मेरे कोई नहीं है और वह बुरी तरह से रोने लगी ''तब तुम मेरीसन्तान हो'' ऐसा कहकर दामा शेट्टी उसे अपने घर ले आये। ये घटना कोई ६०० वर्ष पूर्व की है जब दामा शेट्टी कार्तिक के महीने में होने वाले वार्षिकोत्सव में विठोबा के दर्शन हेतु पण्ढरपुर गये थे। ये अनाथ लड़की जिसे जानी कहा जाता था, बाद में अत्यन्त सम्माननीय संत कवयित्रियों में से एक हुई।[1] दामा शेट्टी परभानी नगर के नरसी ब्रह्माणी कस्बे में रहते थे। वारकरी सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार कार्तिकी एकादशी को विठोबा के दर्शन करने आये थे। भक्ति विज्ञान के लेखक महीपति के अनुसार जानी के पिता का नाम दामा था और माता का नाम करूण्द था। वे निम्न जाति के थे। वे गंगाखेड़ा के निवासी थे और वहाँ से विट्ठल के दर्शन के लिये पण्ढरपुर आये थे। जानी भी उनके साथ थी। लेकिन भगवान के विग्रह को देखने के पश्चात् उसने वहीं

---

[1] पृ० ३९८

ठहरने का निश्चय किया।[1] कल्याण के ''संत विशेषांक'' मे जनाबाई का दामा शेट्टी के परिवार में आने का प्रसंग इस प्रकार उल्लिखित है। -- ''जनाबाई श्री नामदेव जी के घर का काम-धंधा करने वाली एक दासी थीं। इनका जन्म गोदावरी तीर पर गंगाखेड़ा नामक स्थान में एक शूद्रकुल में हुआ था। पिता का नाम दमा और माता का नाम करूण्ड था। माता बचपन में ही चल बसी। पिता बच्ची को लेकर पण्ढरपुर की यात्रा करने गये। पण्ढरपुर के भगवन्नाममय वातावरण और श्री विट्ठल के दर्शन का इस छोटी कन्या के हृदय पर कुछ ऐसा असर पड़ा कि इसने पिता से कहा कि अब मैं यहीं रहूँगी। पिता ने हर तरह से जब देख लिया कि जना के हृदय में भगवन्मिलन की सच्ची लगन है तब उसने ममता का पाश तोड़कर अपनी इस सात वर्ष की कन्या को नामदेव जी के पिता दामासेठ के घर काम-काज करने के मिस रहकर भगवद्भजन करने के लिये छोड़ दिया। नामदेव जी का अभी जन्म नहीं हुआ था। पीछे नामदेव जी जन्में। नामदेव जी को बचपन में जना ने ही खिलाया। नामदेव जी के घर के सभी लोग भगवान का नाम लेने वाले और भजन करने वाले आनन्दी जीव थें। जना भी दासी होकर भी उनमें धुल मिल गयी।[2]

दामा शेट्टी के परिवार में दासी के रूप में स्वीकार की गई जनाबाई नामदेव के साथ बडी हुईं, जो विठोबा के भक्त थे। ''वह कोई भी काम करती भगवान्नाम का कीर्त्तन किया करती। वह साध्वी थीं। काम करना था उसे भगवदभक्त-भवन का। सारी क्रियाओं से उससे भगवत्सेवा स्वंय होती जाती थी''[3]

---

[1] ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया से उद्घृत पृ० ३४८
[2] कल्याण संत पृ० ४९९
[3] कल्याण नारी अंक पृ० ६५७

जनाबाई आजन्म अविवहिता रहीं।[1] इनके आराध्य देव विट्ठल थे। संवत् १४०७ की श्रावण कृष्ण त्रयोदशी को इहलोक से चल बसी।[2]

एक बार नामदेव जी ने असंख्य अभंगों की रचना का निश्चय किया। लेकिन यह कार्य एक व्यक्ति के लिये बहुत कठिन था, इसलिये उन्होंने अपने परिवार के सदस्यों की सहायता लेने का विचार किया। प्रत्येक सदस्य को निश्चित संख्या में पद रचना के लिये कहा गया। जना को भी बड़ी संख्या में पद सृजन के लिये कहा गया। जना की रचनायें औरों की रचनाओं से परिमाण और गुण सभी दृष्टियों में बढ़कर निकली क्योंकि वह स्वयं को प्रतिक्षण भगवान विठोबा के सानिध्य में पाती थी।[3]

जना जब भी कोई कार्य करती थीं वह सोचती थी कि भगवान विट्ठल उसके साथ हैं। वह प्रातः काल जल्दी उठती थी और परिवार के लिये अनाज पीसने का कार्य करती थीं। ये बात बहुत शीघ्र ही प्रकाश में आई कि भगवान विठ्ठल उसके साथ स्वयं अनाज पीसते थे। एकदिन नामदेव जी की माँ ने जना की झोपड़ी में किसी की बातचीत सुनी लेकिन जब उसने अन्दर झांककर देखा तो एक अन्य स्त्री जना की सहायता कर रही थी। पूछने पर उसने अपना नाम वित्ताबाई बताया। अब नामदेव जी की माँ समझ गईं कि ये विठ्ठल ही हैं और जना के प्रति अपने मन में शंका के कारण बहुत लज्जित हुई।[4]

---

[1] मराठी का भक्ति साहित्य पृ० ९२

[2] कल्याण संत अंक पृ० ५००

[3] ग्रेट विमेन ऑफ इन्डिया के ग्रेट विमेन इन महाराष्ट्र से उद्धृत पृ० ३४९

[4] वही

इसी तरह एक बार जना द्वारा धोये जाने वाले वस्त्र वृद्धा के वेश में विठोबा ने धो दिये। जना नामदेव जी के द्वारा यह जानकर कि वे स्वंय विठ्ठल थे, बड़ी दुखी हुई कि भगवान को उनके लिये कष्ट उठाना पड़ा। प्रतिपल विठोबा का सानिध्य पाने वाली जनाबाई के संबंध में एक अन्य कथा भी है। विठोबा नामदेव के साथ भोजन ग्रहण करते थे। एक दिन जना खेत में उपले बनाने गई थीं। भगवान ने कहा, "मै जना की अनुपस्थिति में भोजन नहीं ग्रहण कर पाऊँगा। जनाबाई बुलाई गईं तो भगवान् ने अतीव आनन्द के साथ भोजन ग्रहण किया।"

इन कथाओं के पीछे क्या सत्यता है, यह इसी से निश्चित हो जाता है कि अपने जीवन काल में वे लोगों के द्वारा बहुत पूजित थीं और वह सम्मान उन्हें आज भी प्राप्त है। यह निश्चित नहीं है कि उन्होंने कितने अभंगों की रचना की, लेकिन करीब ३५० अभंग उनके नाम से मिलते हैं। उनमें से बहुत से पद इधर-उधर कर दिये गये हैं अर्थात् दूसरों के नाम से मिलते हैं और बहुत से काट-छॉट दिये गये हैं, इसलिये यह कहना कठिन है कि उनके मौलिक पद किस रूप में रहे होंगे। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके अभंग प्रसिद्ध हैं और वारकरी सम्प्रदाय की दैनिक प्रार्थना में शामिल किये जाते हैं। उनके अभंगों में भाव भक्ति निरंहकारिता, संयम, नीति, ज्ञान और वैराग्य की चर्चा है। संत नामदेव ज्ञानेश्वर एवं संत चोखामेला का नाम संकीर्तन उन्होंने अपने अभंगों में किया है। उनका कहना है--

माझी भेटवा जननी,

सन्ता विनवी दासी जनी।

*   *   *

मतिमन्द भी तुझी दासी,

ठाव घावा पाया पाझी।[1]

वे संत ज्ञानेश्वर की वन्दना सख्यभाव से करती हुई कहती हैं-

ज्ञानाचा सागर।

सखा माझा ज्ञानेश्वर।

मरोनिया जावे।

वा तुझयाचि पोटी पावे।

ऐसे करीगा माझ्या देवा

संख्या माझ्या ज्ञानदेवा।।

जाईन ओवाळनी

जन्मों जन्मी म्हेण जनी।[2]

अर्थात् मेरे सखा ज्ञानेश्वर सचमुच ज्ञान के सागर हैं। मैं चाहती हूँ कि मर जाऊँ और उनके घर फिर से जन्म लूँ। हे ज्ञानेश्वर! मुझ पर इतनी कृपा कीजियेगा कि मैं आपके चरणों पर जन्म जन्मान्तर न्योछावर होती रहूँ।

---

[1] संत काव्य में नारी से उद्धृत पृ० १९४

[2] वही

जनाबाई अपनी भक्ति, ज्ञान से संत परम्परा की श्रीवृद्धि करती हैं। यद्यपि उनके अभंगों का कोई संकलन प्राप्त नहीं है, तथापि वे अपने युग की सम्मानित, पूजित संतकवयित्री हैं, जिसने संत मत की धारा को पुष्ट करने में अपना योगदान दिया। ये उस काल से सम्बन्ध रखती हैं जब संतमत की धारा के प्रवाह से सम्पूर्ण भारत आप्लावित हो रहा था। उनकी निशिष्टता इस सन्दर्भ में भी है कि वे एक दासी थीं। दासी जो निम्न वर्ग से संबंध रखती है, जिसके सामान्यतया अपने कोई विशिष्ट विचार नहीं होते, ऐसा विचारशून्य कार्य करते हुये भी वे इतनी विचारवान हैं, ये उनको ही नहीं, सम्पूर्ण सन्त परम्परा की उपलब्धि है।,

(८) इन्द्रामती

इन्द्रामती धामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक प्राणनाथ जी की पत्नी थीं। इनका उल्लेख पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने "हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय" में एवं डा० सावित्री सिन्हा ने "मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ" में प्राणनाथ की पत्नी के रूप में किया है। प्राणनाथ जी का समय १६१९ से १६९५ ई० माना जाता है अतः इन्द्रामती का भी यही समय अनुमानित है। ये जाति से क्षत्रिय थी एवं इनका निवास स्थान गुजरात के कठियावाड़ का जामनगर नामक स्थान था। इन्द्रामती की मृत्यु सन् १६९४ ई में हुई थी।[1]

इन्द्रामती संत मतावलम्बी थी। विक्रम की १७वीं शताब्दी के लगभग जब ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार भारतवर्ष में शुरू हुआ तो निर्गुण मार्गी सन्तों ने स्वयं को उसके करीब पाया। इसी समय प्राणनाथ जी ने हिन्दू, मुसलमानों एवं ईसाइयो को एक घोषित किया। इसके साथ-साथ उन्होनें स्वयं को एक साथ मेंहदी, मसीहा और कल्कि घोषित किया।[2] इस पंथ के सिद्धान्तों के अनुसार धर्म के नाम पर विभाजन एवं दूसरे धर्मावलम्बी को स्वयं से भिन्न एवं निम्न कोटि का समझना मिथ्या है, झूठ है। इन्होंने सूफियों के प्रेम और ईसाइयों की आचार निष्ठा को स्वीकार किया और एक सर्वमान्य सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की, प्रेम तत्व संवलित एकेश्वर वाद"। धामी सम्प्रदाय का उद्देश्य ही है भगवान के धाम की

---

[1] हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉ पृ० ८५

[2] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियॉ । पृ० ८३

प्राप्ति। प्राणनाथ एक विख्यात सन्त थे। इन्होनें पन्ना नरेश छत्रसाल के लिय हीरे की खान का पता लगाया था। इतने प्रसिद्ध सन्त की पत्नी भी उन्हीं के समान प्रतिभाशाली थीं उन्होंने अपने पति के साथ संयुक्त रूप से रचनाये कीं।

धामी पंथ के वृहद ग्रन्थ में इन्द्रामती के रचे हुये बहुत से अंश है। ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति के ऊपर के पृष्ठ कुछ खण्डित हैं, इस कारण उसका नाम ज्ञात नहीं होता। पर उसमें जो छोटे-छोटे ग्रन्थ सम्मिलित हैं, उन सबमें विभिन्न धर्मों विशेष कर हिन्दू और इस्लाम धर्म में एकत्व दिखलाने का प्रयास किया गया है, और आश्चर्य तो यह होता है कि लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में इन्द्रामती की लिखी हुई कवितायें सम्मिलित हैं।[1] नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिर्पोटों में इन्द्रामती एवं प्राणनाथ की बारह से भी अधिक सयुंक्त कृतियों का उल्लेख है।[2] इस ग्रन्थ में संकलित संयुक्त कृतियाँ निम्नाकिंत हैं।

१. किताब जम्बूर

२. षट रुत

३. षट रुत नो कलस

४. किताब तोरेत

५. संनधे

६. कीर्त्तन

७. खुलासा फुरमान

---

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८४

[2] मधकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ०८४

८. खिलवत

९. परिक्रमा

१०. आठो सागर

११. कयामत नाम छोटो

१२. कयामत नामा बड़ो

१३. मारफत सागर

१४. रामत रहस्य

इन रचनाओं में षट रुत, षट् रुत नो कलस और रामत रहस्य पूर्ण रूप से इन्द्रामती रचित है। कीर्त्तन के भी अधिकतर पद उन्हीं के द्वारा रचित हैं। इनमें खुलासा फुरमान, संनधे, कयामत नामा छोटो, कयामत नामा बड़ो, मारफत सागर, खिलवत में इस्लाम धर्म की विवेचना है। किताब जम्बूर में हिन्दू धर्म के अनेक सम्प्रदायों पर प्रकाश डाला गया हैं। परिक्रमा में हिन्दू और इस्लाम धर्म के मूल तत्वों की तुलना करते हुये दोनों की विरोधी धारणाओं का निराकरण एवं समानताओं द्वारा समन्वय का प्रयास किया गया है, षट रुत नो कलस की रचना के विषय में प्राणनाथ जी का कथन कि–

साथ के सुख कारने इन्द्रमती को मै कह्या।

ताथें मुखइन्द्रामती से स्रवण कर भया।[१]

---

[१] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८६

साथ के सुख के लिये इन्द्रामती को जो उन्होंने कहा, इन्द्रामती ने उसे काव्य रूप में परिणत कर दिया। इससे तो ऐसा लगता है कि इन्द्रामती में काव्य प्रतिभा तो थी किन्तु प्रेरणा और विषय वस्तु प्राणनाथ की थी। इन्द्रामती द्वारा रचित विप्रलम्भ श्रृंगार के कुछ प्रसंग उद्धरणीय है, जिनमें हम उनकी तीव्र विरहानुभूति और उत्कट भक्ति भावना के दर्शन करते हैं–

सब तन बिरह खाइया, गल गया लोहू मांस।

न आवे अंदर बाहर, या विधि सूकतासॉस।[1]

*　　*　　*　　*　　*

हॉड़ भयो सब लकड़ी सर, श्रीफल विरह अग्नि।

मॉस भीज लोइ रंगा, या विधि होत हवन।[2]

उक्त उद्धहरण किताब तोरेत से उद्धरित है, जिसमें विरह का सूक्ष्म एवं मार्मिक चित्रण है। यद्यपि इस रचना के विचित्र नाम से इस का कोई तारतम्य नहीं बैठता, तथापि इसकी पंक्तियाँ गहन वेदनात्मक स्तर को व्यक्त करने वाली हैं। इसी प्रकार बारह मासी में भी उनकी विरहाभिव्यक्ति इस रूप में फूट पड़ी है।

हूँ तो बाला जी बिना

सोभा जिये वणराय, रूचे बरस्यां मेघ।

तेन्डीं मीडयों अंगनाये घर आये कियो श्रृंगार।

---

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८७

[2] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८७

...............................ऐ नीर तेरे आधार।

....छेम दीजिये

एनेवचण इन्द्रमती अंग बाला तेडी लीजिए।[1]

इन्द्रामती ने अपनी रचनाओं को मल्हार, राग बसंत, राग सामेरी, राग परभाती आदि में प्रस्तुत किया है।[2] भाषा अस्पष्ट एवं अटपटी है, जिसमें विदेशी भाषा के शब्द प्रचुर मात्रा में है जिससे अर्थ विश्लेषण में बाधा आती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

श्री किताब कुरान श्री सन्नध।

असराफी लेखुस अवाज से, कुरान को गाया है।[3]

*   *   *   *   *

हैं सैया फुरमान लाये हम।

------------------ सो कहूँगी जो लिषा कुरान।

इन विधि फुरमान फरमावती जाहिर देखती।[4]

कहीं कही तो उनकी भाषा गद्यात्मक हो गई है

तू न भूल इन्द्रामती

१ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८६

२ हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रियाँ पृ०८७

३ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८८

४ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८८

ऐसा समया पाये। तू ले धनी अपना। और जिन दिषाये।। तो ही यो धनी के बाभ लसी। पहिचान ले सुहाग ऐसी एकांत कब पायेगी।। मेहरे करी महबूब।। कपके संग मिलाप आषां षोंल के ढापियें जिन चूकिये इतनी बेर।। रात दिन तेरे राज का सूत कात सवा सेर।।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में धामी सम्प्रदाय के प्रति आस्था और इस आस्था के फलस्वरूप मनुष्य का ईश्वर से अवश्यंभावी मिलन होने के तथ्य के अतिरिक्त सम्पूर्ण पदावली छंद की दृष्टि से, भाषा की दृष्टि से अस्पष्ट, अतुकान्त एवं अशुद्ध प्रयोगों से युक्त है। काव्य कला की दृष्टि से उनकी रचनाओं का आकलन करने से अनेक दोष परिलक्षित होते है। उनकी रचनाओं की विशिष्टता इस संदर्भ में है कि इन्होंने अपने पति के साथ सहयोग करके ऐसे समय में सर्व धर्म समभाव की रचनायें रचीं जब धार्मिक विद्वेष चरम पर था। यह उस युग के लिये ही नहीं वरन् आज भी गौरव की वस्तु है। उन्होंने धामी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तन में महत्वपूर्ण सहयोग किया। इस प्रकार इन्द्रामती उस परम्परा की एक महत्वपूर्व कड़ी है, जिसने विश्व बन्धुत्व की भावना के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दिया।

इन्द्रामती संत परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी हैं। इन्होंने न केवल भारतीय साधना पद्धति के दोनों मार्गों सगुण एवं निर्गुण को अपने काव्य का विषय बनाया वरन् नवागत इस्लाम और ईसाई धर्म भी उनकी रचना के विषय थे। इनका मंतव्य बहुत ही विशाल था। जहाँ संत भारतीय समाज के धार्मिक विद्वेष को दूर करके एकत्व लाने की चेष्टा कर रहे थे, वहाँ इन्होंने विश्व

---

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० ८५

के अन्य धर्मों के साथ तारतम्य बैठाने की कोशिश की। धामी सम्प्रदाय का उद्देश्य है भगवान के धाम की प्राप्ति। संसार के सभी धर्मों का उद्देश्य भी यही है। विशुद्ध प्रेम की अनुभूति ही वास्तविक सत्य है। इन्होंने आचरण की शुद्धता, पवित्रता, सदाचार और प्रेम भावना पर बल दिया। प्राणनाथ जी के साथ संयुक्त रूप से रचनायें करके इन्होंने स्वयं की काव्य प्रतिमा का प्रमाण तो दिया ही है, साथ ही एक पुरुष के समकक्ष अपनी योग्यता भी प्रमाणित की है।

(९) मल्ला या मल्लिका

मल्ला या मल्लिका आन्ध्र प्रदेश की एक प्रमुख संत कवयित्री हैं। ये एक ाधारण कुम्हार के घर सन् १४४० को उत्पन्न हुई थी। इनके पिता का नाम ‍सना था। इनका जन्मस्थान पन्नार नदी के बाँये किनारे पर स्थित नेलूर से ‍छ मील उत्तर में गोपावरम गाँव था। अब उस गाँव का नाम पदुगुपाडु है।

मल्ला तेलुगू साहित्य की प्रथम व सर्वोत्तम कवयित्री हैं। वे राजा ‍ृष्णदेवराय की समकालीन थीं। मल्लिकार्जन एवं मल्लिकाम्बा (शिव-पार्वती) की ‍रम भक्त मल्लिका की दीक्षा वीर शैव मठ में हुई थी। इनका एक और नाम वैशिवि" भी कहा जाता है। जिसका अर्थ है विश्वेश्वर की सेवा में रत। ये ‍ाजीवन ब्रह्मचारिणी थी, संन्यास धर्म में दीक्षित होकर इन्होंने दिव्य आत्मिक ‍ान प्राप्त किया। मल्ला ने तेलुगू भाषा में रामायण की रचना की जिसके बारे में ‍वयं उनका कथन है कि, "संस्कृत में रामायण अनेकों है, जिन्हें पण्डितगण ‍न्दन को ढोने वाले पशु के समान ढोते रहते है। मेरी रामायण साधारण जनमानस के लिये उन्हीं की भाषा में है। संस्कृत की उच्च शैली उनकी समझ के परे हो जाती है, वैसे ही जैसे गूँगे, बहरे के समक्ष संगीत। उस पर सभी हँसते।[1] महाराजा कृष्णदेव राय ने इन्हें कविरत्न की उपाधि तथा स्वर्ण अभिषेक से अलंकृत किया। इन्होंने तेलुगू भाषा में अनेक रचनाये की है। इनकी कवितायें तेलुगू समाज में बड़े प्रेम से गाई जाती हैं। इनके गीत सरलता एवं भक्तिभाव से

---

[1] "विवेक ज्योति" नामक पत्रिका के "आन्ध्र की सन्त मल्ला" नामक निबन्ध से उद्‌धृत पृ० ७९

परिपूर्ण होने के कारण तेलुगू समाज में अत्यन्त लोकप्रिय हैं। इनकी काव्य प्रतिभा की परीक्षा के लिये एक बार इन्हें राजदरबार में बुलाया गया। महाराज के मन्त्री तेनालीराम ने इनकी परीक्षा के लिये उन्हें गजेन्द्र की पुकार एवं प्रभु के तुरन्त पहुँचने का प्रसंग वर्णित करने को कहा। मल्ला ने नेत्र बन्द करके ध्यान की मुद्रा में अपने मधुर कण्ठ से गायन प्रारम्भ किया और निर्धारित समय सीमा के भीतर काव्य रचना प्रस्तुत कर सबको आश्चर्य चकित कर दिया। तेनालीराम द्वारा पूछे गये प्रश्न कि तुम्हारा गुरु कौन है, मल्ला ने उत्तर दिया, "श्रीकान्त मल्लिकार्जुन, जो गुरुओं के भी गुरु है। पुनः यह पूछने पर कि, "सुदूर गॉव में एक कुम्हार के घर जन्मी, तुम इतनी बड़ी दार्शनिक कैसे बनगई, उन्होंने उत्तर दिया कि, "परम ज्ञान प्रदान करने वाले भगवान गोरेश्वर की असीम कृपा, मेरे अध्यवसाय तथा तीक्ष्ण दृष्टि के फलस्वरूप मुझे बोध प्राप्त हुआ। मेरे पिता कुम्हार थे, मै देखती थी कि वे सभी तरह की मूर्तियाँ बनाते हैं, मनुष्य पशु, पेड़-पत्ते, फूल, गुड़िया, बर्तन इत्यादि। हर आकार की किन्तु सबमें एक ही तत्व है मिट्टी। अपने गाँव में मैं नित्य देखती थी कि तिलहनों में तेल, धरती के नीचे पानी के स्रोत, लकड़ी में अग्नि विद्यमान है, उसी प्रकार सभी जीवों में आत्मा भी विद्यमान है। ये उदाहरण एक ही तथ्य प्रकट करते हैं, ईश्वर सभी में व्याप्त है।'

मल्ला ने अपने जीवन का अन्तिम समय श्री सैलम में बिताया। अपने अन्तिम दिन उन्होंने कड़ी तपस्या एवं साधकों का मार्गदर्शन करने में बिताये। मल्ला ने सन् १५३० में लगभग ९० वर्ष की आयु में शरीर त्याग कर जीवन लीला से मुक्ति प्राप्त की।

---

१ विवेक ज्योति- आन्ध्र की सन्त मल्ला, प्रवाजिका श्यामाप्राणा पृ० ८०

मल्ला ने तेलुगू समाज में धार्मिक प्रवृत्तियों को जाग्रत कर उसे नवीन दिशा दी। वे तेलुगू साहित्य की लोकप्रिय संत कवयित्री हैं। तेनालीराम और मल्ला के बीच वार्तालाप के प्रसंग से वे अत्यन्त ज्ञानी प्रतीत होती हैं, यद्यपि उनकी साधना सगुण भक्ति भाव की प्रतीत होती है, किन्तु हमें इस तथ्य का ध्यान रखना चाहिये कि दक्षिण में सन्त और भक्त की वैसी विभाजक रेखा नहीं है जैसी उत्तर में है। वहाँ सन्त और भक्त एक दूसरे के पर्यायवाची जैसे प्रयुक्त होते हैं।

—⊛—

पंचम अध्याय

प्रमुख हिन्दी भाषी संत कवयित्रियाँ और उनका योगदान

(१) सहजोबाई

सहजोबाई चरणदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक चरणदास जी की शिष्या एवं उनकी सजातीया थीं। इन्होंने स्वयं अपने विषय में कोई उल्लेख नहीं किया है, केवल अपनी रचना "सहज प्रकाश" की रचना तिथि का उल्लेख करते हुये कहा है कि–

फाग महीना अष्टमी, सुकल पाख बुधवार।
संबत अठारे सै हुते, सहजो किया विचार।।

अतः सं० १८०० में इनका विद्यमान होना निश्चित होता है। वियोगी हरि ने "संत सुधासार" में तथा आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने "उत्तरी भारत की संत परम्परा" में सहजोबाई का जीवनकाल सं० १७४०–१८२० माना है। डा० सावित्री सिन्हा ने "मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ" मे इनका जन्म सन् १७४३ में माना है।

सहजोबाई ने 'सहज प्रकाश' में स्वयं को ढूसर कुल में उत्पन्न एवं अपने पिता का नाम हरिप्रसाद बताया है और दिल्ली के समीप परीक्षितपुर में अपना निवास स्थान बताया है। अपने बारे में उन्होंने केवल इतना ही अन्तः साक्ष्य दिया है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में भी इन्हें धूसर वैश्य, परीक्षित पुर (दिल्ली) की निवासिनी कहा गया है। "संत सुधासार" में वियोगी हरि के अनुसार "डेहरा गाँव में वास, राजस्थान में जन्म, जाति ढूसर बनिया, बेष ब्रह्मचारिणी, गुरु चरनदास'', अतः सहजोबाई का जन्म राजस्थान के डेहरा गाँव के ढूसर कुल में हुआ था और अनुमान है कि चरणदास जी से दीक्षा प्राप्त करने के उपरान्त वे "परीक्षितपुर" दिल्ली में निवास करने लगी थीं।

कुछ विद्वानों के मतानुसार ये चरणदास की सगी बहन थीं परन्तु सहज प्रकाश में स्वयं सहजोबाई ने अपने पिता का नाम हरिप्रसाद[1] एवं चरणदास जी के पिता का नाम मुरलीधर[2] और माता का नाम कुञ्जोरानी[3] उल्लिखित किया है। चरण दास जी के शिष्य "जोगजीत" द्वारा रचित "लीलासागर" ग्रन्थ से ये चरण दास जी की बुआ की बेटी सिद्ध होती हैं। अतः चरणरास जी इनके ममेरे भाई थे। इनके चार भाई राधाकृष्ण, गंगा विष्णु, दासकुँवर एवं हरिनारायण थे। इनकी शिक्षा घर पर ही हुई थी। ये एकमात्र पुत्री होने के कारण अपने माता–पिता की लाड़ली थीं। इनके विवाह का प्रसंग चरणदास जी के समकालीन शिष्य जोगजीत के लीलासागर ग्रन्थ में वर्णित है, इसके अनुसार ११–१२ वर्ष की अवस्था में सहजोबाई का विवाह भार्गव कुल के सुसम्पन्न परिवार में होना निश्चित किया गया। सहजोबाई विवाह के लिये तैयार हो रही थीं, उसी समय चरणदास जी वहाँ पधारे और उन से बोले–

"सहजो तनिक सुहाग पर, कहा गुथाए सीस।

मरना है रहना नहीं, जाना बिसवे बीस।।

इतना सुनते ही सहजोबाई विवाह का विचार त्याग कर उठ खड़ी हुईं। सभी सम्बन्धी सहजो को विवाह के लिये समझा रहे थे, किन्तु उनके मन में वैराग्य जाग्रत हो चुका था और वे अपने निश्चय से नहीं डिगीं। इधर यह घटना हुई और उधर बारात पक्ष में बाराती जब आतिश बाजी एवं धूम धड़ाके के साथ द्वार पर आ रहे थे तो बारूद के धमाके से बिदक कर घोड़ा भाग निकला एवं एक पेड़ से टकरा कर गिर गया और वहीं वर की मृत्यु हो गई। इस हृदय द्रावक समाचार को सुनकर सभी लोग शोक निमग्न हो गये। हरि प्रसाद जी भी चरणदास जी की

---

[1] सहज प्रकाश पृ० ४०

[2] सहज प्रकाश मिश्रित पद पृ० ५०

[3] सहज प्रकाश मिश्रित पद पृ० ५०

आध्यात्मिक शक्ति से प्रभावित होकर विरक्त हो गये एवं अपने चारों पुत्रों एव कन्या के साथ चरणदास जी के शिष्य हो गये।

सहजोबाई दिल्ली में चरण दास जी की शिष्या के रूप में रहने लगी। कृ० गो० वानखेड़े गुरु जी के अनुसार, "सत्संग में झाड़ू देना, गुरु सेवा करना, आने जोने वालों की सेवा करना यह काम सहजोबाई बड़े प्रेम से करने लगी। सुबह शाम सत्संग में बैठकर अभ्यास व साधना करतीं। दिन भर गुरु भाइयों की सेवा में अपना समय व्यतीत करती। सहजो बाई अनन्य गुरु भक्त थीं।[1] इसी लेख में वानखेड़े गुरु जी ने सहजोबाई के दैवी चमत्कारों के फलस्वरूप शाह आलम द्वितीय द्वारा ११०० स्वर्ण मुद्राओं एवं बंधला नामक ग्राम सन् १७६६ में दिये जाने का उल्लेख किया है। यह जागीर चरणदास जी के शिष्यों में सहजोबाई को सबसे पहले मिली थी। उन्होंने इसके अतिरिक्त दिल्ली स्थित नरेला, बादली, मादोपुर, दहीरपुर, मलसुवा नामक पॉच ग्रामों की आंशिक जागीर भी दी थी।

चरणदास जी ने संवत् १८३९ में शरीर त्याग किया था। २३ वर्षों तक सहजोबाई चरणदास जी के उपदेशों का प्रचार करती रहीं। इसके पश्चात संवत् १८६२ में माघ शुक्ला पंचमी को उन्होंने शरीर त्याग दिया। उनकी पुण्यतिथि के रूप में बसंत पञ्चमी का उत्सव पंथ में बड़ी श्रद्धा से मनाया जाता है। चरण दास जी के बावन शिष्य थे, उनमें सहजोबाई सर्वाधिक ख्यातिलब्ध थीं। वे शब्द अभ्यासी थीं एवं उच्चकोटि की साधिका थीं। "वेलविडियर प्रिंटिंग वर्क्स" इलाहाबाद, से उनकी रचनाओं का संग्रह "सहजोबाई की बानी" नाम से प्रकाशित हुआ है, जिसमें इनकी रचना "सहज प्रकाश" के अतिरिक्त "सोलह तिथि निर्णय", " सात वार निर्णय" एवं मिश्रित पद भी संकलित है। इस संकलन में सहजोबाई की जीवनी भी संक्षेप में दी गई है। सहज प्रकाश में सहजोबाई ने निम्न लिखित प्रसंगो का वर्णन किया है।

---

[1] हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉ पृ० ९१

१. सतगुरु महिमा का अंग

२. हरि ते गुरु की विशेषता

३. गुरु मारग महिमा

४. गुरु चरन महिमा

५. गुरु आज्ञा

६. गुरु विमुख

७. गुरु शब्द

८. उपदेश गुरु भक्ति का

९. गुरु महिमा

१०. साधु महिमा

११. दुष्ट लक्षण

१२. साधु लक्षण

१३. द्वादस प्रकार के वचन के साध के

१४. द्वादस प्रकार के वचन दुष्ट के

१५. वैराग उपजावन का अंग

१६. कर्म अनुसार योनि

१७. जन्म दशा

१८. वृद्ध अवस्था

१९. मृत्यु दशा

२०. काल मृत्यु

२१. अकाल मृत्यु

२२. नाम का अंग

२३. नन्हा महा उत्तम का अंग

२४. प्रेम का अंग

२५. अजपा गायत्री का अंग

२६ सत बैराग जग मिथ्या का अंग

२७. सच्चिदानन्द का अंग

२८. नित्य अनित्य सांख्यमत का अंग

२९. निर्गुन सर्गुन संशय निवारन भक्ति का अंग।

अध्ययन की सुविधा के लिये इसे निम्नांकित बिन्दुओं में बाँट सकते हैः—

१. गुरु महिमा २. साधु महिमा ३. अंग ४. जीवन की दशाये।

गुरु महिमा

गुरु—महिमा के अन्तर्गत पहले वे चरणदास जी के गुरु शुकदेव जी की वन्दना करती हैं। तब सभी देवो के देव चरणदास जी की स्तुति प्रारम्भ करती हैं, जो निरालम्ब के आलम्ब, तीनों लोकों के स्वामी, अन्तर्यामी, पाप विनाशक, ब्रह्मस्वरूप, त्रिगुणातीत, भक्ति ज्ञान एव योग के राजा एवं शरणागत को तुरीयावस्था में पहुँचा देने वाले हैं[1], स्वयं तो ब्रह्म स्वरूप हैं ही, शिष्य को भी ब्रह्मरूप कर देते हैं एवं जीव रूप की समस्त आधि-व्याधियों को नष्ट कर देते है।[2]

सहजोबाई ने गुरु की कोटियाँ निर्धारित करते हुये ४ भागों में बाँटा है।

---

[1] सहज प्रकाश पृ० १

[2] सहज प्रकाश पृ० १

गुरु है चार प्रकार के अपने अपने अंग।

गुरु पारस दीपक गुरु, मलयागिरि गुरु भृंग।।[1]

सहजोबाई ने अपने गुरु चरणदास में इन सभी अगो का समावेश एक साथ माना है। वे अपने पारस स्पर्श से लौह रूप शिष्य को कञ्चन मे परिणत कर देते है। पलाश रूप शिष्य को चन्दन में एवं कीट रूप शिष्य को भृंगकीट में और प्रकाशरहित दीपक को अपनी उज्जवल ज्योति देकर प्रज्वलित कर देते है।[2] जिस शिष्य की जैसी बुद्धि है उसमें वैसी ही धारणा जाग्रत करते हैं।[3] ऐसे समर्थ सद्गुरु को प्राप्त कर लेने के पश्चात सहजोबाई हरि से गुरु की विशेषता बताते हुये गुरु को कभी न छोड़ने का निश्चय करती है।

राम तजूँ पै गुरु न बिसारू। गुरु के सम हरि कूँ न निहारूँ।।

हरि ने जन्म दियोजग मॉही। गुरु ने आवागमन छुटाहीं।।

हरि ने पॉच चोर दिये साथा। गुरु ने लई छुटाय अनाथा।।

हरि ने कुटुँब जाल में गेरी। गुरु ने काटी ममता बेरी।।

हरि ने मो सूँ आय छिपायो। गुरु दीपक दै ताहि दिखायो।।

ये कारण हैं जिससे वे गुरु पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करती है और हरि को भी उसके बदले छोड़ने को तैयार हैं। गुरु का माहात्म्य इतने से ही नहीं समाप्त होता। यदि समस्त पर्वतों

[1] राहज प्रकाश पृ० २
[2] सहज प्रकाश पृ० २
[3] सहज प्रकाश पृ० २
[4] सहज प्रकाश पृ० ३

को कूट कर समुद्र में घोल कर स्याही बनायी जाय और समस्त धरती को कागज बनाकर गुरु की स्तुति की जाय तब भी गुरु की महिमा इतनी अनंत है कि वर्णन असम्भव है।[1]

गुरु मार्ग पर चलने का उपदेश देती हुई सहजोबाई का कथन है कि, "गुरु के मार्ग पर दृग रूपी पग रखकर चलना चाहिये, संशय का परित्याग कर देना चाहिये। सहजोबाई तो स्वयं को शूरवीर एवं सती की कोटि में रखती हैं, और गुरु मार्ग से जरा भी नहीं डिगती।[2] गुरु मार्ग पर चलने पर ठग नहीं लगते और कपट एवं भय भाग जाते हैं। गुरु मार्ग मुक्ति का प्रकाश फैलता है, सांसारिक कालिमा नष्ट हो जाती है, द्वैत भाव मिट जाता है एवं अनादि ब्रह्म का भेद पता चल जाता है।[3]

गुरु चरणों की महिमा व्यक्त करती हुई सहजोबाई कहती हैं कि अड़सठ तीर्थों का वास गुरु चरणों में हैं। समस्त ब्रह्माण्ड में ऐसा अन्य कोई तीर्थ नहीं है।[4] गुरु के चरणोदक का पान कर लेने से सहज ही मुक्ति हो जाती है, जीव संसार में नहीं रह जाता है,[5] अतः वे गुरु के चरण कमलों की निशदिन अर्चना करती हैं और किसी अन्य देवता का ध्यान नहीं करती हैं। उनके इष्ट केवल गुरु के चरण ही है।[6] गुरु के चरणों में चित्त रखने से हानि-लाभ, सुख-दुख और मृत्यु भी उन्हें स्वीकार हैं। गुरु के चरण मुक्ति फल को प्रदान करने वाले और सर्वदा सहायक है। आठों सिद्धियों और नवोंनिधियों को नकार कर भी वे गुरु के चरण कमलों मे चित्त रखने की चेष्टा करती हैं, क्योंकि समस्त पदार्थ गुरु के चरणों में हैं। गुरु के चरणों के स्पर्श से

---

[1] सहज प्रकाश पृ० ३
[2] सहज प्रकाश पृ० ४
[3] सहज प्रकाश पृ० ४
[4] सहज प्रकाश--१७ पृ० ४
[5] सहज प्रकाश--१८ पृ० ४
[6] सहज प्रकाश--१९ पृ० ५

समस्त दुख नष्ट हो जाते हैं, तीनों लोकों की सत्यता परिलक्षित होने लगती है। मोह, ममता के बन्धन छूटने लगते है, आवागमन के बन्धन से मुक्ति मिल जाती है।[१]

गुरु की आज्ञा मानने का निर्देश करती हुई सहजोबाई का कथन है कि गुरु की आज्ञा के बिना कोई कार्य नहीं करना चाहिये, चाहे हानि ही हो जाये। गुरु आज्ञा मानने वाले के मार्ग में कोई विघ्न नहीं आता है, भक्ति बढ़ती है और शिष्य भवसागर से पार हो जाता है। वही हरि का जन है, साधु है, समस्त भेदों को जानने वाला ज्ञानी है।[२] जो गुरु की आज्ञा नहीं मानते वे आवागमन के चक्र में बंधे रहते हैं और गर्भवास का कष्ट भोगते हैं।[३] ऐसे लोगों (गुरु विमुख) का दर्शन, चर्चा वाद-विवाद, एवं इनके संग गोष्ठी नहीं करनी चाहिये। इनकी चौरासी योनियों में भटकने की यातना समाप्त नहीं होती है। ये यम के काल-जाल में लिपटे रहते हैं। इनका मन मैला और तन अकर्मण्य रहता है।[४] तृष्णा, काम, क्रोध से दग्ध ऐसे दुष्टों की बुद्धि नष्ट हो जाती है, वे लोभ-लहर में डूब जाते है, सपने में भी इन के चित्त में क्षमा, शील नहीं आता, इनके हाथों में सदैव हिंसा का अंकुश रहता है।[५]

कृपण के धन के सदृश गुरु के वचनों को सहेज कर हृदय में रखना चाहिये। गुरु के प्रबोधन से ही यम पाश से मुक्ति होती है एवं मोह निद्रा टूटती है,[६] कुबुद्धि का नाश होता है, परम गति की प्राप्ति होती है, मनुष्य की जीव बुद्धि का नाश होता है, ईश्वर से साक्षात्कार और अभय की स्थिति प्राप्त होती है।[७]

---

१ सहज प्रकाश–२० पृ० ५
२ सहज प्रकाश–२३ पृ० ६
३ सहज प्रकाश–२३ पृ० ६
४ सहज प्रकाश–२५ पृ० ६
५ सहज प्रकाश–२८ पृ० ७
६ सहज प्रकाश–२९-३० पृ० ७
७ सहज प्रकाश–३० पृ० ७

गुरु भक्ति का उपदेश करती हुई सहजो कहती हैं कि गुरु यदि लाख बार भी झिड़के तो भी गुरु का द्वार नहीं छोड़ना चाहिये। यही ध्यान की धारणा है। गुरु का दर्शन, गुरु का ध्यान एवं कुल अभिमान त्याग कर गुरु की सेवा करनी चाहिये। कृपण कंगाल शिष्य को सतगुरु सब कुछ देता हैं। गुरु से न कुछ छिपाना चाहिये न असत्य भाषण करना चाहिये, जो भी भाव हो उन्हें गुरु के सम्मुख व्यक्त कर देना चाहिये।[1]

गुरु महिमा का गान करती हुई सहजोबाई का कथन है कि संसार का कोई भी कार्य गुरु के बिना पूरा नहीं हो सकता है। कबीर की भाँति वे भी गुरु का दर्जा ईश्वर से ऊँचा रखती है।[2] अठारह पुराण, चार वेद और छहों प्रकार के ज्ञान से भी गुरु के बिना मर्म भेद नहीं प्राप्त किया जा सकता है।[3] गुरु की कृपा से ही भवसागर से पार पाया जा सकता है और वेदार्थ को गूँगा भी भाषित कर सकता है।[4] काग (तुच्छ व्यक्ति) हंस (निर्मल) की गति को प्राप्त हो जाता है।[5] लोभ, मोह, काम, क्रोध से गुरु ही उबारता है।[6] यह गुरु की ही कृपा है कि जिस लोक मे चीटी जैसी जीव का भी प्रवेश नहीं हो सकता एवं सरसों के भी ठहरने की गुजांइश नहीं होती वहीं स्थान गुरु कृपा से निवास स्थान बन गया।[7] यहाँ चीटीं एवं सरसों के उदाहरण से कवयित्री का आशय योग मार्ग के दिव्य अनुभवों से है। शिष्य को तो मिट्टी के सदृश होना चाहिये, जो स्वयं को गुरु रूप कुम्हार के हाथों में सौंप दे एवं जैसा स्वरूप गुरु चाहे निर्मित करे।[8] गुरु धोबी की तरह शिष्य के कल्मष रूप मल को ज्ञान के साबुन से धो देता है।[9]

---

[1] सहज प्रकाश–३५ पृ० ८
[2] सहज प्रकाश–३६-३७ पृ० ८
[3] सहज प्रकाश–३८ पृ० ८
[4] सहज प्रकाश–४१ पृ० ८
[5] सहज प्रकाश–४२ पृ० ९
[6] सहज प्रकाश–४३-४४ पृ० ९
[7] सहज प्रकाश–५३ पृ० ९
[8] सहज प्रकाश–५४ पृ० १०
[9] सहज प्रकाश–५७ पृ० १०

साधु महिमा

साधु के लक्षण बताती हुई सहजोबाई कहती हैं कि साधु वही है, जो आलस्य और वाद-विवाद छोड़कर काया को साधे। ध्यान की धारणा करे, विकलता, निन्दा का परित्याग करे। क्षमाशील और धैर्यवान हो। पाँचों इन्द्रियों को वश में करके कामनाओं का दमन करे असत्य भाषण का परित्याग एवं सत्य भाषण करे।[1] संसार एवं उसके भोगों में उदासीन रहे। वह –

निर्गुन ध्यानी ब्रह्म गियानी । मुख सूँ बोले अमृत बानी ।।

निर्दुन्दी निबैरता, सहजो अरू निर्बास । सन्तोषी निर्मल दसा, तकै न पर की आस ।।

जो सोवै तो सुन्न में, जो जागे हरि नाम । जो बोलै तो हरि कथा, भक्ति करे निष्काम।।[2]

वह निर्गुण का ध्यान करने वाला ब्रह्म ज्ञानी होता है। मुधर वाणी बोलता है। वह दुख द्वन्द से दूर रहता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता है, उसका कोई घर नहीं होता है। वह शून्य समाधि में सोता है। जाग्रतावस्था में हरिनाम स्मरण करता है। बोलने की स्थिति में केवल हरिकथा उच्चरित होती है और वह निष्काम भक्ति करता है। यहाँ पर सहजोबाई गीता के भक्तियोग से प्रभावित हैं। साधु विद्या एवं वाद-विवाद में सुखी नहीं होते हैं। वे तो केवल शून्य समाधि में परमात्मा से नित्य विहार की स्थिति में सुखी रहते है। सहजो को इस सृष्टि में धनवान, निर्धन, रंक, राजा सभी दुःखी दिखाई देते हैं। वे कहती हैं कि तृष्णा रोग नाश से ही साधु सुखी रहते हैं। सुख तो अपने अन्दर है उसे बाह्य जगत में स्त्री पुत्र महल में खोजना व्यर्थ है।

---

१ सहज प्रकाश–२१ पृ० १४

२ सहज प्रकाश–२२-२४ पृ० १४

ना सुख दारा सुत महल, ना सुख भूप भये।

साध सुखी सहजो कहैं, तृस्ना रोग गये।।[1]

द्वादस प्रकार के साध एवं दुष्ट वचनों का मात्र नामोल्लेख ही सहजोबाई ने किया है।

निर्गुण पंथ में सत्संग का बड़ा ही महत्व है, सत्संग में दिव्य यौगिक क्रियाओं एवं अनुभवों को साधक साधना पथ में अग्रसर अन्य संतों से सम्पर्क कर प्राप्त करता है। ऐसे संतों एवं साधुओं का संसर्ग सहजोबाई की दृष्टि में जैसे ईश्वर से साक्षात्कार के समान है।[2] इनके दर्शन से समस्त कामनायें नष्ट हो जाती है एवं चित्त में स्थिरता आ जाती है।[3] समस्त दुखों का नाश हो जाता है, जन्म-मरण की पीड़ा मिट जाती है।[4] सत्संगति से तीनों ताप (दैहिक, दैविक, भौतिक) नष्ट हो जाते हैं और काग हंस की गति को प्राप्त हो जाता है।[5]

सहजोबाई दुष्टों को भक्ति, योग और ज्ञान को दृढ़ करने वाला मानती है। इनके द्वारा दिये गये तानों से ये और भी पुष्ट होते है।[6] दुष्ट जन धन्य है जो निन्दा करके सज्जनों के जो पाप होते हैं उनको भी हर लेते हैं। दुष्ट जन बड़े महान त्यागी होते हैं। वे सत्संग, गुरुचरण, भक्ति, ध्यान-धारणा, उत्तम कोटि का व्यवहार, सत्यवचन, क्षमा, वैराग्य, संतोष एवं ईश्वर की ओर जाने वाले मार्ग का परित्याग करते हैं।[7]

---

[1] सहज प्रकाश-४१ पृ० १५
[2] सहज प्रकाश-४ पृ० १२
[3] सहज प्रकाश-३ पृ० १२
[4] सहज प्रकाश-५-६ पृ० १२
[5] सहज प्रकाश-१०-१६ पृ० १२-१३
[6] सहज प्रकाश-१८ पृ० १३
[7] सहज प्रकाश-१९ पृ० १३

अंग

वैराग उपजावन का

हरि नाम स्मरण करना चाहिये एवं संसार से स्नेह का परित्याग करना चाहिये, क्योंकि इस संसार में अपना तो कोई भी नहीं है, शरीर भी नहीं।[१] संसार का त्याग कर देना चाहिये, अन्यथा संसार तो अन्त में छूट ही जाता है।[२] संसार में सुख-दुख उसी प्रकार लगा रहता है जैसे लोहे की संड़सी का स्पर्श एक क्षण में जल से और दूसरे क्षण अग्नि से होता है।[३] समस्त सांसारिक नाते झूठे हैं, घर द्वार झूठा है। (वास्तविक नाता और घर तो दूसरा है) जब तक चावल धान में रहता है तब तक उसमें उत्पन्न होने का गुण रहता है। जैसे ही संसार रूप छिलका उतर जाता है (जीव के संदर्भ में मुक्ति) उत्पत्ति का क्रम समाप्त हो जाता है।[४] समस्त सांसारिक संबंध बीच के हैं, अर्थात जन्म के पश्चात बनते है और मृत्यु के पश्चात समाप्त हो जाते है।[५] इसमें आदि अन्त नहीं है कभी वह तेरा पिता था, कभी तेरा पुत्र, कभी तेरा मित्र था, और कभी तेरा श्त्रु, चौरासी योनि चक्र में तो बहुत से मिले और छूटे, तो शोक किसके लिये है, शरीर से, तो वह तो तुम्हारे सम्मुख अक्षत पड़ी है और यदि आत्मा से तो वह तो अजर अमर है।[६] यहाँ पर सहजोबाई शंकराचार्य के दर्शन से प्रभावित दिखती है

---

१ सहजो भज हरि नाम कूँ, तजो जगत सूँ नेह।
अपना तो कोई है नहीं अपनी सगी न देह।। सहज प्रकाश पृ० १६

२ सहजो भज हरि नाम कूँ, तजो जगत सूँ नेह।
अपना तो कोई है नहीं अपनी सगी न देह।। सहज प्रकाश पृ० १६

३ सहज प्रकाश-- पृ० १६

४ सहज प्रकाश-- पृ० १६

५ सहज प्रकाश-- पृ० १६

६ सहज प्रकाश-- पृ० १९

पुनरिपि जननं पुनरपि मरण, पुनरपि, जननी जठरे शयनम्।

इह संसारे खलु दुस्तारे, कृया पारे पगहि मुरारे।।

कस्तवं कोऽहं कुत आयातः, का मे जननी को मे तातः।

इति परिभावय सर्वम् सारम्। विश्वं त्यक्तवा स्वप्न विचारम्।।

रोग, मृत्यु और दुख के समय कोई किसी का साथ नहीं देता है, इतने पर भी लोग उन्हें अपना सगा कहते हैं, ये अन्धे नहीं तो और क्या है।[1] दर्द बॉट नहीं सकते, मरने पर साथ जा नहीं सकते हैं, जैसे वृक्ष से पत्ते विलग होते हैं, मुँह से बात निकलती है वैसे ही शरीर से प्राण अलग हो जाते हैं।[2] हिरण्याकश्यप, दुर्योधन, शिशुपाल, कुंभकर्ण, और रावण जैसे महाबली भी काल से नहीं बच सके।[3] मृत्यु तो धनी-निर्धन के लिये एक जैसी है। सबको मरकर एक ही जगह जाना है। यदि स्वयं का जीवन स्थिर रहने वाला हो तो किसी की मृत्यु का शोक मनाया जाय, लेकिन यहाँ संसार में तो सभी जलमार्ग के पथिक हैं।[4] संसार रूप वृक्ष के नीचे बैठते-बैठते बहुत से लोग चले गये। सहजोबाई ने संसार की नश्वरता का रूपक "रस्ता बहता रहे"[5] के रूप में बाँधा है पथिक तो चलते ही हैं किन्तु "रस्ता बहता रहे" में गम्भीर व्यंजना है। मानों रास्ता स्वयं काल तक ले जा रहा हो। जीव के प्रति कथन है कि संसार के देखते-देखते तुम काल का ग्रास बनोगे और तुम्हारे देखते-देखते संसार। यही रीति है। बहुत आते है, बहुत जाते हैं इसे ज्ञान

---

[1] सहज प्रकाश· पृ० १७

[2] वही - पृ० १७

[3] वही - पृ० १८

[4] वही- पृ० १८

[5] यह रस्ता बहता रहे थमै नहीं छिन एक। सहज प्रकाश ३३ पृ० १८

चक्षुओं से देखो एवं व्यर्थ चिन्तन न करो।[1] यहाँ पर सहजो बाई शंकराचार्य के सदृश लोक और जीव की निस्सारता प्रतिपादित करती है।

नाहं न त्वं नायं लोकः। तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥

अतः बहुत खो चुका, थोड़ा ही बचा है, यह भी नहीं रहना है। ईश्वर की भक्ति के बिना जीवन व्यर्थ जा रहा है, इसका मन में विचार करना चाहियें।[2]

नाम का अंग

नाम का अंग में नाम स्मरण की महत्ता प्रतिपादित की गई है। नाम स्मरण से चौरासी लाख योनियों के दुख, यम की फाँस, छप्पन नरकों के त्रास एवं गर्भ वास से मुक्ति मिल जाती है।[3] जिस घट में राम का नाम है वह मंगल रूप है, राम-नाम से रहित सुन्दर, धनवान राजा भी धिक्कार के योग्य है।[4] राम-नाम नौका के सृदश है जिसका सहारा लेकर भवसागर से पार पाया जा सकता है। जो नामस्मरण नहीं जानते वे तो मंझधार में डूब ही जाते हैं।[5] स्वर्ण दान, गजदान, और भूमिदान कुछ भी हरिनाम स्मरण की बराबरी नहीं कर सकते।[6] वर्षा, शीत और ग्रीष्म को सहन करके किया गया तप भी राम के नाम से छोटा है।[7] इन्द्र का पद एव ब्रह्मा की आयु मिले तब भी मृत्यु तो अवश्यंभावी है।[8] राम का नाम लेकर अन्य सबको न्यौछावर कर देना चाहिये।

---

1. सहज प्रकाश ३४ - पृ०-१८
2. बहुत गई थोऊी रही, यह भी रहसीनांहि दो० पृ०-४९
   जन्म जाय हरि भक्ति बिनु, सहजो झुर मन माँहि ॥ पृ०-२०
3. सहज प्रकाश पृ०-३१
4. सहज प्रकाश ९ - पृ०-३०
5. सहज प्रकाश १० - पृ०-३०
6. सहज प्रकाश १३ - पृ०-३०
7. सहज प्रकाश १४ - पृ०-३०
8. सहज प्रकाश ३ - पृ०-३०

तीनों लोकों का राज्य भी अन्त समय छूट जाता है।[1] भक्ति के बिना योग-यज्ञ, आचार-विचार सभी निस्सार है। मनुष्य की देह प्राप्ति का अवसर दुर्लभ है, इस दुर्लभ संयोग का लाभ हरिनाम स्मरण करके उठा लेना चाहिये।[2] सहजो बाई ने नाम स्मरण की महत्ता कबीर आदि संतकवियों के समान ही स्वीकार की है, साथ ही नाम स्मरण की विधि के बारे में वे निर्देश देती हैं, कि हृदय में छिपाकर नाम स्मरण करना चाहिये, होंठ भी नहीं हिलने चाहिये, केवल ईश्वर के अतिरिक्त और कोई न जान सके।[3] बैठकर, लेटे हुये, चलते समय, खाते समय, जब भी जहाँ भी संभव हो नाम स्मरण करते रहना चाहिये[4] जिससे नामस्मरण का तार न टूट जाये।[5] अट्ठारह पुराणों और चारों वेदों में नाम स्मरण की विशेषता बताई गई है, अतः भगवन्नामस्मरण ही विवेक पूर्ण है। नाम स्मरण करना भी सब नहीं जानते, करोड़ों में कोई एक ही जानता है।[6]

नन्हा महाउत्तम का अंग

"नन्हा महाउत्तम का अंग" में लघु बनने में महा सुख है और बड़प्पन निकृष्ट चीज है, इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। तारे अत्यन्त सुखी है उनको कभी ग्रहण नहीं लगता है, जबकि सूर्य चन्द्र जो बड़े है और संसार को आलोकित भी करते है, उनको ग्रहण लगता है।[7] नाहर विशाल पशु है वह उजाड़ते हुये घूमता फिरता है, जबकि नन्हीं बकरी को सभी प्यार करते हैं।[8] शीश, कान, मुख, नाक बड़े-बड़े नाम है, किन्तु नीचे रहने के कारण चरणों की ही

---

1. सहज प्रकाश ४ - पृ०-३०
2. सहज प्रकाश ६ - पृ०-३०
3. सहज प्रकाश १६ - १७ पृ०-३१
4. सहज प्रकाश १८ पृ०-३१
5. सहज प्रकाश १९ पृ०-३१
6. सहज प्रकाश २० - २१ पृ०-३१
7. सहज प्रकाश २ पृ०-३३
8. सहज प्रकाश ३ पृ० ३३

पूजा होती है।[1] चींटी लघु होने के कारण हर स्थान में जाकर रसास्वादन कर लेती है, जबकि विशाल होने के कारण हाथी अपने सिर पर धूल ही डालता है।[2] द्वितीया के चन्द्रमा का सभी दर्शन करते हैं, वही चन्द्रमा छोटे से दिन रात बढ़ता है और पूर्ण रूप प्राप्त करता है। पूर्ण रूप प्राप्त करते ही वह आदर नहीं रह जाता है और सभी कलायें घट जाती हैं, एवं जरा सी भी रेखा नहीं रह जाती है।[3] छोटा बालक राजा के महल में प्रवेश पा सकता है। स्त्री भी उससे परदा नहीं करती है, और उसे गोद में खिलाती है।[4] ईश्वर के दरबार में भी अभिमानी (बड़ा) व्यक्ति नहीं जा सकता है, द्वार से ही उसकी प्रताड़ना प्रारम्भ हो जाती है।[5] अतः गुरु के वचनों को सम्हाल कर नन्हा बनने की चेष्टा करनी चाहिये।[6]

प्रेम का अंग

"प्रेम का अंग" में प्रेम के कारण साधक की क्या दशा होती है, इसका वर्णन है। जो मतवाला होता है उसका मन चकना चूर होता है, केवल अपने इष्ट को देखकर प्रसन्न रहता है प्रेम रस में निमग्न रहकर घूमता है। सुधि-बुधि चली जाती है, शरीर का भी भान नहीं रहता है, राजा रंक सब उसके लिये समान होते हैं। जाति वर्ण के भेद मिट जाते हैं। वाणी बहकने लगती है, मुख से हँसी छूटती है, नेत्रों से अश्रु प्रवाहित होते हैं, संसार उन्हें पागल कहता है, नियम धर्म सब खो जाता है, सगे संबंधी दूर हो जाते हैं, लोग उसकी अवस्था पर हँसते है और वह

---

[1] सहज प्रकाश ४ पृ० ३३
[2] सहज प्रकाश ५ पृ० ३३
[3] सहज प्रकाश ६-७ पृ० ३३
[4] सहज प्रकाश ८ पृ० ३३
[5] सहज प्रकाश ९ पृ० ३३
[6] सहज प्रकाश १ पृ० ३२

अपने मन में आनन्दित रहता है। शरीर प्रेम में मत्त होने के कारण डॉवाडोल रहता है, पैर कही के कहीं पड़ते हैं। न वह किसी के संग रहता है न कोई उसके संग रहता है।[1]

अजपा गायत्री का अंग

"अजपा गायत्री का अंग" में आत्मा द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति की प्रक्रिया बताई गई है, इस स्थिति में जिह्वा, तालु के बिना भी नाम स्मरण होता है। हंसा सोहं के तार में सुरति रूपी मोती पिरोकर उसके उतार चढ़ाव से ही स्मरण का ज्ञान होता है। बाह्य उपादान (माला इत्यादि) कारक नहीं होते है। षट्चक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा) का भेदन करने के पश्चात जब कुन्डलिनी शक्ति जाग्रत होती हैं, तो सहस्रार के शतदल कमल से अमृत रस की वर्षा होती है, इसे ही वे "कला गगन में खाय" कहकर अभिहित करती है। शून्य में टकटकी लग जाती है, सहज ही श्वाँस में तीर्थों का पुण्य रस बहने लगता है जो भी इसमें नहा उठता है उसके पाप पुण्य दोनों छूट जाते हैं यही अजपा जाप की स्थिति है।[2]

सत्त बैराग जगत मिथ्या का अंग

"सत्त बैराग जगत मिथ्या का अंग" में वैराग्य ही सत्य है, और संसार मिथ्या है, यह तथ्य प्रतिपादित किया गया है। संसारी जीव अज्ञान की स्वप्नावस्था में लीन रहते हैं, इस अवस्था में ही रोग, भोग और संयोग होते है।[3] यदि ज्ञान की दृष्टि हो तो करोड़ों वर्ष एक क्षण जैसे प्रतीत होते हैं, लेकिन स्वप्न में सोया होने के कारण, वास्तविकता का ज्ञान नहीं रहता है।[4] स्वर्ग लोक,

---

[1] सहज प्रकाश पृ० ३४-३५
[2] सहज प्रकाश पृ० ३५
[3] सहज प्रकाश पृ० ३६
[4] सहज प्रकाश पृ० ३६

मृत्यु लोक, पाताल लोक, सब मिथ्या हैं, तीनों लोक इन्द्रजाल के सदृश छल रूप है।[1] मृगतृष्णा का जल तब तक सत्य मालूम होता है जब तक, उसके निकट न जाया जाय उसी तरह जब तक सतगुरु की कृपा दृष्टि नहीं मिलती, तब तक यह संसार भी सत्य प्रतीत होता है।[2] ज्ञानी को संसार असत्य और अज्ञानी को सत्य प्रतीत होता है। संसार की नश्वरता का प्रतिपादन सहजोबाई भोर के तारे के रूपक से करती है:–

जगत तरैया भोर की, सहजो ठहरत नांहि।

जैसे मोती ओस की, पानी अंजुली मांहि।।

जो ज्यादा देर नहीं ठहरता है। यह उसी प्रकार अल्प जीवन वाला है जैसे ओस कणों को मोती समझने की भूल करना एवं पानी को अंजलि में भरकर रखने की अभिलाषा। धुयें के गढ़ में राज्य करने की इच्छा की तरह यह सत्य नहीं हो सकता है। केवल आत्मा ही नित्य है, इसी नित्य रूप की पहचान करनी चाहिये, जिसे काल भी नष्ट नही कर सकता हैं।[3]

सच्चिदानन्द का अंग

"सच्चिदानन्द का अंग" में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द रूप हैं। यह न तो नया है, न पुराना। इसमें घुन नहीं लगता, न यह मारने पर ही मर सकता हैं। इसमें भय भी व्याप्त नही होता है न इसमें कीड़ा लगता है, न नष्ट होता है, न घटता है, न किसी के आश्रय में है, इसका रूप, वर्ण, रंग, शरीर, मित्र, इष्ट जाति-पॉति, घर

---

[1] सहज प्रकाश पृ० ३६

[2] सहज प्रकाश पृ० ३६

[3] सहज प्रकाश पृ० ३६

कुछ भी नहीं है। न इसकी उत्पत्ति होती है न मृत्यु, न यह बासी ही होता है। रात्रि, दिन, शीत उष्ण कोई स्थिति इसके साथ नहीं है, न तो इसे आग जला सकती है, न शस्त्र काट ही सकते है, धूप सुखा भी नहीं सकती है, पवन उड़ा नहीं सकता है। उसके न पिता है न माता है, न कुटुम्ब, न वह रंक है न राजा, उसका आदि, अंत, मध्य कुछ भी नहीं है। न तो प्रलय में आता है न पुनः उत्पत्ति होती है। उस अनादि ब्रह्म को हृदय में खोजना चाहिये उसकी प्राप्ति का अन्य कोई साधन नहीं है।[1]

नित्य अनित्य सांष्य मत का अंग

"नित्य अनित्य सांष्य मत का अंग" में सांष्य मत के नित्य अनित्य दोनों मतों का वर्णन है। दोनों का उद्देश्य मुक्ति पाना ही है। जाग्रत, सुषुप्त एवं स्वप्न ये तीनों अवस्थायें शरीर से ही होती हैं। घटती, बढ़ती एवं क्षीण हो जाती है। आत्मा तुरीयावस्था में पहुँचकर इनके परे देखने की सामर्थ्य प्राप्त करती हैं। इन्द्रियाँ और मन उस अपार तत्व को नहीं देख सकते। जिह्वा न तो उसका आस्वादन कर सकती है न कान उसकी आवाज सुन सकते हैं। नेत्र उसे देख भी नहीं सकते हैं। नासिका एवं त्वचा भी उसका संज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती, उसे तो केवल अनुभव से जाना जा सकता है। चित्त, बुद्धि इस संदर्भ में थक जाती है। जिसे तीनों प्रकार की हँकार का ज्ञान है वह भी उसे नहीं प्राप्त कर पाता है। रस, रूप, गन्ध, शब्द, स्पर्श से रहित वह तो कुछ और ही है। तीनों गुणों (सत्, रज, तम) से परे त्रिगुणातीत उसे केवल चेतना की दृष्टि से देखा जा सकता है।[2]

---

1. सहज प्रकाश पृ० ३६-३७
2. सहज प्रकाश पृ० ३७-३८

निर्गुन-सर्गुन संशय निवारन भक्ति का अंग

"निर्गुन-सर्गुन संशय निवारन भक्ति का अंग" में निर्गुण और सगुण ईश्वर की एकता प्रतिपादित की गई है। वह निर्गुण-सगुण दोनों है। भक्तों के उद्धार हेतु निर्गुण से सगुण होता है।

"निर्गुन सूँ सर्गुन भये, भक्त उधारनहार"[1] अयोध्या और वृज में वही प्रकट हुये और अपार कौतुक किया। उसके नाम, रूप, कौतुक सब अनन्त है। गीता में भी कृष्ण ने चर-अचर सब में अपना निवास बताया है।[2] वह निराकार है फिर भी सभी रूपों में व्याप्त है। निर्गुण है फिर भी गुणवान है। है भी और नहीं भी है। उसका कोई नाम भी नहीं है और सब नाम भी है। कोई रूप नहीं है और सब रूप भी है। इस तरह सब कुछ ब्रह्म रूप है, प्रकट रूप में भी और गुप्त रूप में भी।[3] ज्ञानी उसे अपने निकट अर्थात अन्तर्मन में ही प्राप्त कर लेता है और मूर्ख को वह दूर हीं दिखाई देता है।[4] योगी योग से, ज्ञानी विचार से, एवं भक्त भक्ति से प्राप्त करता है।[5] सगुण एवं निर्गुण में जल एवं पाले और सूर्य एवं धूप की तरह कोई अन्तर नहीं है।[6] यह वही ब्रह्म है जिनका ध्यान ब्रह्मादिक करते है। शिव सनकादि जिनका पार नहीं पाते। वही सखियों के साथ रास करते है। अनन्त लोकों की सर्जना एवं संहार करते है, वही मोहन एवं वृजराज कहलाते हैं। संयम, साधन एवं ध्यान जिन ग्वालो को नहीं आता उन्हीं के संग क्रीड़ा करते हैं।[7] यहाँ पर

---

[1] सहज प्रकाश पृ० ३८

[2] सहज प्रकाश पृ० ३९

[3] निराकार आकार सब, निर्गुन और गुनवन्त।
है नाहीं सू रहित है सहजो यो भगवन्त।।
नाम नाही औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप।
सहजो सब कुछ ब्रह्म है, हरि परगट हरि गूप।। सहज प्रकाश पृ० ३८

[4] ज्ञानी पावै निकट ही मूरख जानै दूर। सहज प्रकाश पृ० ३९

[5] सहज प्रकाश पृ० ३९

[6] सहज प्रकाश पृ० ३९

[7] सहज प्रकाश पृ० ३९

सहजोबाई सगुण एवं निर्गुण ब्रह्म को एक ही मानती है, कबीर की तरह उनका ब्रह्म पुहुप बास ते पातरा, धुँवा से अति झीन" तो है ही, साथ ही वह सब नाम रूप गुण में समाया है। समस्त चेतना उसी की है और अयोध्या और बृज में कौतुक करने वाला भी वही है।

दशायें

दशाओं के अन्तर्गत जन्म दशा, मृत्युदशा, वृद्धावस्था, काल मृत्यु एवं अकाल मृत्यु का वर्णन हैं। जीवन वेदना (प्रसव) से प्रारम्भ होकर वेदना (मृत्यु) में पर्यवसित होता है। यह वर्णन बहुत ही सजीव एवं वास्तविक है, किन्तु एक तरह से जीवन के प्रति वितृष्णा एवं विगर्हणा का भाव भी जगाता है। जन्मदशा का वर्णन करती हुई सहजोबाई ये घृणास्पद चित्र खींचती हैः-

पापी जीव गर्भ जब आवै, भवन अंधेरे वहु दुख पावै।

तल मूड़ी ऊपर को पाऊँ, मुख लिगी और विष्ठा ठाऊँ।।[1]

युवावस्था में यौवन के मद में मत्त, विषय वासना में रंगा, शक्ति में चूर पतनोन्मुख युवक का खाका कुछ इस तरह हैः

तरूनापा भया सकल शरीरा, अंधा भया बिसारि हरि हीरा।।

विषय वसना में मद मातो अहै आपदा के रंग रातो।।

मूँछ मरोड़ अकड़ता डोलै, काहूँ ते मुख मीठ न बोलै।।

कहै बराबर मेरे नाहीं, बुद्धिमान कोई या जग नाहीं।।[2]

---

[1] सहज प्रकाश पृ० २२

[2] सहज प्रकाश पृ० २४

बाल्यावस्था एवं युवावस्था तो बिना किसी चिन्ता के बीत गई अब उसे अपनी असहाय स्थिति का ज्ञान होता है।

लागी विरध अवस्था चौथी, सहजो आगे मौताहि मोती।।

हाथ पैर सिर काँपन लागे, नैन भये बिनु जोति अभागे[1]

जिस स्त्री-पुत्र के लिये सब कुछ किया वे अब पास भी नहीं फटकते,

पूत बहू लख नाक चढ़ावै, बहुत पुकारै निकटन आवै

निहुरि चलै लकड़ी ले हाथा, स्वजन कुटुम्ब नहि दुख के साथा।[2]

तिन के मोह तजे जगदीसा, अब मन में कलपै धुनि सीसा।

चरण दास गुरु कही विसेषी, हरि बिनयों जग जाता देखी।।[3]

संसारी जीव की करूण एवं उपेक्षित स्थिति को व्यक्ति कर वे संसार की निःसारता प्रतिपादित करती हैं। मृत्यु की स्थिति तो अत्यन्त भयावह है:-

सहजो मृत्यु आइया, लेता पाँव पसार।

नैन फटे नाड़ी छुटी, सोंही रहा निहार।।

सहजो मिरतू के समय पीड़ा होय अपार।

बीछू एक हजार ज्यों, डंक लगै इकसार।।

---

[1] सहज प्रकाश पृ० २५

[2] सहज प्रकाश पृ० २५

[3] सहज प्रकाश दोहा ८४ पृ० २५

इस तरह समस्त जीवनका एक करूण, वीभत्स, नैराश्यपूर्ण एवं विकर्षणयुक्त वर्णन सहजोबाई करती हैं, और मनुष्य मात्र को प्रबोधित करती हैं कि जो दिखाई पड रहा है वही सत्य नहीं है, उसके परे भी सत्य है, और वही परमसत्य है, वही सबका गंतव्य है।

व्यक्तियों के कर्म ही उसके अगले जन्म का निर्धारण करते है। यह भारतीय चिन्तन का एक अनिवार्य अंग है। "कर्म के अनुसार योनि" पर प्रकाश डालती हुई सहजोबाई भी इसमें विश्वास व्यक्त करती हैं :-

पसु पंछी नर सुर असुर, जलचर कीट पतंग।

सबही उत्पत्ति कर्म की, सहजो नाना अंग।।[१]

शरीर त्याग के समय जैसी आशा मन में रहती है वैसा ही जन्म एवं वैसे ही घर में वास मिलता है।[२] जिसकी कामना घर की होती है वह घूॅस होकर घर में निवास करता है। धन की कामना होने पर काले नाग का जन्म मिलता है। स्त्री में आसक्ति हो तो स्वान का जन्म मिलता है। श्रेष्ठ पुरुष की कामना हो तो भंगी के घर कुतिया का जन्म मिलता है। पुत्र की आशा हो तो नीच वर्ण के व्यक्ति के घर में सुअर होकर रहता है। वाहन की इन्छा हो तो अश्व योनि मिलती है। जहॉ जिसकी वासना रहती है वह वहीं जाता है।[३] अतः वे वासना त्याग का मंत्र देती है जो उनके गुरु ने उन्हें दिया है,[४] क्योंकिः--

---

१ सहज प्रकाश पृ० २०
२ सहज प्रकाश पृ० २०
३ सहज प्रकाश पृ० २०-२१
४ चरणदास गुरु मोंहि बताई।
तजो वासना सहजोबाई।। सहज प्रकाश पृ० २१

धन यौवन सुख सम्पदा, बाहर की सी छाँह।

सहजो आखिर धूप है, चौरासी के माँह॥[1]

सोलह तिथि निर्णय

यह उनकी दूसरी प्राप्त रचना है। यह वेलविडियर प्रिटिंग प्रेस से प्रकाशित "सहजोबाई की बानी" में संकलित है। यह रचना "कुंडलिया छंद में है। छंदविधान का समुचित निर्वाह इसमें नहीं है। प्रत्येक तिथि के नाम का प्रथम अक्षर लेकर पद प्रारम्भ किया है। सोलह कुण्डलियों और चार दोहों में यह रचना सम्पूर्ण हुई है। वर्ण्य विषय इसमें भी सहज प्रकाश का ही है जैसा कि वे स्वयं कहती है।

चरनदास के चरन कूँ निस दिन राखूँ ध्यान।

ज्ञान भक्ति और जोग कूँ, तिथि में करूँ बखान॥[2]

पूर्णिमा तिथि के प्रसंग में गुरु की महत्ता इस तरह प्रतिपादित की है :-

पूनो पूरा गूरु मिलै मेटै सब सन्देह।
सोवत सूँ चेतन्न होय देखै जाग्रत गेह॥
देखै जाग्रत गेह जहाँ सूँ सुपने आयौ।
जग कूँ जान्यौ साँच रूप अपनो बिसरायौ॥
चरनदास कहै सहजिया गुरु चरनन चित लाव।
तिमिर मिटै अज्ञान कूँ, ज्ञान चाँदनों पाव॥[3]

---

1. सहज प्रकाश पृ० २१
2. सहजोबाई की बानी पृ० ४१
3. सहजोबाई की बानी पृ० ४५

पूर्णिमा की चॉदनी एवं गुरु प्रदत्त ज्ञान के प्रभाव का चित्रण एक साथ एक अनूठा प्रयोग है।

सात वार निर्णय

यह उनकी तीसरी रचना है। यह भी सहजोबाई की बानी में संकलित है। सात दिनों का वर्णन इस रचना में है। यह भी कुण्डलिया छन्द में है। चार दोहों एवं सात कुण्डलियों में रचना पूर्ण हुई है। इसका प्रतिपाद्य भी गुरु कृपा एवं संसार की वास्तविकता है:–

सात वार ये मै कहे, जा में हरि का भेद।

जो कोई समुझै प्रीति सूँ, छूटे सबही खेद।।

सातो वारों बीच में, जग उपजै मिटि जाय।

सहजोबाई हरि जपो, आवागमन नसाय।।[1]

संसार की उत्पत्ति एवं नाश इन्ही सातों दिवसों के क्रम में होता है। कुछ उदाहरण देखने योग्य है:–

वृहस्पतिः

वृहस्पति वारी आइया, पाई मनुखा देह।

सो तन छिन छिन घटत है, भयौ जात है खेद।।[2]

---

[1] सहजोबाई की बानी पृ० ४७

[2] सहजोबाई की बानी पृ० ४६

शुक्रः

सुक्कर सर उपदेश का, लगा कलेजे नाहि।

ते नर पसू समान है, या दुनिया के मॉहि।[1]

इसी तरह अन्य दिनों का वर्णन है।

मिश्रित पद

पद शैली में रचित ये पद भी सहजोबाई की बानी में संकलित है। ये विभिन्न राग रागिनियों में निबद्ध हैं। इनकी संख्या चालीस है। इनका वर्ण्य विषय, गुरु की महिमा, स्वयं की दैन्यता, भक्ति-ज्ञान की श्रेष्ठता है। सहज प्रकाश में जहाँ ज्ञानी का ज्ञान है, वहीं इन पदों मे भक्त का हृदय है। कही-कहीं इन पदों में सूर, तुलसी एवं मीरा का सा भाव सौन्दर्य परिलक्षित होता है। इन पदों में विनय की सातों स्थितियाँ एवं शरणागति के छहों तत्व यत्र तत्र परिलक्षित होते हैं। गुरु की वन्दना करती हुई सहजोबाई उन्हें अभयदान दाता दुखहर्ता, पाप विनाशक कहती है।

हमारे गुरु पूरन दातार।
अभयदान दीनन को दीन्हें, कीन्हे भवजल पार।
जन्म जन्म के बंधन काटे, यम को बंध निवार।
देवै ज्ञान भक्ति पुनि देवै योग बतावन हार।
सब दुख गंजन पातक भंजन, रंजन ध्यान विचार।
साजन दुर्जन जो चलि आवै एकहि दृष्टि निहार।
ऑनद रूप सरूप मई है, लिप्त नहीं संसार।[2]

---

[1] सहजोबाइ की बानी पृ० ४६

एक पद में किशोर कृष्ण के रूप सौन्दर्य का वर्णन अत्यन्त मनोहारी शैली में है एवं मीरा से पद का आभास देता है। अपनी लयात्मकता, संगीतात्मकता, कलात्मकता में बेजोड यह श्री कृष्ण की नृत्य मुद्रा का है :—

मुकट लटक अटकी मन मॉही।

नृत तन नटवर मदन मनोहर, कुण्डल झलक अलक बिथुराई।

नाक बुलाक हलत मुक्ताहल, होठ मटक गति भौंह चलाई।

ठुमुक-ठुमुक पग धरत धरनि पर बॉह उठाय करत चतुराई।

झुनक-झुनक नूपुर झनकारत, तताथेई थेई रीझ रिझाई।

चरनदास सहजो हिये अन्तर, भवन करौ जित रहौ सदाई।[1]

दैन्य भाव से ओत प्रोत एक पद में उन्होंने स्वयं को महाअवगुणी एवं खोटे कर्मों से युक्त ाया है:- यहॉ पर विनय की प्रथम एवं शरणागति की छठी स्थिति दीनता के कथन से जीव ो लघुता एवं प्रभु की सर्वशक्तिमत्ता का उल्लेख है।

तुम गुनवंत मैं औगुन भारी।

तुम्हरी ओट-खोट बहु कीन्हें , पतित उधारन लाल बिहारी।

खान पान बोलत अरु डोलत पाप करत है देह हमारी

कर्म बिचारौ तौ नहि छूटौं, जौ छूटो तौ दया तुम्हारी।[2]

यह तो जीव का कर्तव्य है, ईश्वर का क्या कर्तव्य है वह भी याद दिलाना वे नहीं भूलती:

मिश्रित पद पृ० ४९
मिश्रित पद पृ० ५१
मिश्रित पद पृ० ५६

हमरे औगुन पै नहि जाओ, तुमही अपना बिरद सम्हारो।

पतित उधारन नाम तुम्हारो यह सुनके मन दृढता आई।[1]

इसी तरह एक अन्य पद में ईश्वर को माता एवं स्वयं को पुत्र कहकर संबंध निर्वाह की कामना की है :-

इस पद में विनय की पॉचवी स्थिति आश्वासन एवं शरणागति की चतुर्थ स्थिति "रक्षक के रूप में वरण" का उदाहरण प्राप्त होता है।

हम बालक तुम माय हमारी। पल-पल माँहि करो रखवारी।

निस दिन गोदी ही में राखो। इत वित वचन चितावन भाखो।

मै अनजान कछू नहिं जानूँ। बुरी भली को नहिं पहिचानूँ।

मारौ झिड़कौ तौ नहिं जाऊँ। सरक सरक तुम ही पै आऊँ।[2]

इन पदों में सूर एवं तुलसी की सी दैन्य भावना परिलक्षित होती है तुलसी जहॉ

तू दयालु दीन हौ तू दानि हौ भिखारी

हौ प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुञ्ज हारी....

....तात मात, गुरु सखा तू सब विधि हेतु मेरो

---

1 मिश्रित पद ६० ५७

2 मिश्रित पद ५० ५७

कहकर स्वयं को दीन, भिखारी, पातकी कहते हैं एवं तात, मात, गुरु, सखा सब कुछ उन्हीं परमेश्वर को मान अपना सब कर्म उन्हें सौप देते है वहीं सहजोबाई भीः-

मैं अजान तुम सब कुछ जानों, घट-घट अतंरजामी।

मै तो चरनन तुम्हारे लागी, हो किरपाल दयालहि स्वामी।[1]

कहकर दर्शन की निधि के लिये उन्हीं के द्वार पर पड़ी रहती हैं।

जीव का प्रबोधन करती हुई वे उसे संसार में आने के वास्तविक कारण का बोध कराती हैं, कि क्या उसका जन्म मात्र पेट भरकर सोने के लिये है? नहीं, उसे तो भजन के द्वारा परमार्थ का द्वार खोजना हैः- यह पद विनय की चतुर्थ स्थिति भर्त्सना का उदाहारण प्रस्तुत करता है।

जग में कहा कियौ तुम आय।

स्वान की ज्यों पेट भरि कै, सोवौ जन्म गँवाय।

पहर पिछले नहिं जागो, कियो न सुभ कर्म।

चरन दास कहै सहजिया, अब करौ भजन उपाय।[2]

एक पद में मानस पूजा का भाव निहित है जिसमें विचार का धूप, समता का चंदन, क्षमा का फूल, मीठे वचन का भोग, अनहद का घंटा एवं सूरत की लौ लगाने की बात है।[3]

---

[1] मिश्रित पद ६० ५७

[2] मिश्रित पद ६० ५८

इसके अन्तर्गत पॉच पदों में अपने गुरु चरणदास के जन्म का कारण, जन्मोत्सव एवं संदर्भ सहित तिथि का उल्लेख किया है। उनके जन्म का कारण इन पंक्तियों में निहित है:-

दूसर कुल में भक्ति नहीं, जा कूँ तारन आये।

कारन परमारथ तन धार्‌यो, बहुतक जीव उबारे।[१]

यौगिक शब्दावली से युक्त एक पद में वे काया रूपी नगर बसाने की याचना करती है। ज्ञान की दृष्टि, सुरति की लौ एवं अनहद वाद्य बजाकर वे निर्गुण मत के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है:-

बाबा काया नगर बसावौ।

ज़्ञान दृष्टि सूँ घट में देखो, सुरति निरति लौलावौ।

पॉच मारि मन बसि कर अपने तीनों ताप नसावौ।

सत सन्तोष गहौ दृढ़ सेती, दुर्जन मारि भजावौ।

सील दिमा धीरज कूँ धारौ, अनहद बंब बजावौ।

पाप बानिया रहन न दीजै, धरम बजार लगावौ।

सुबस बास होवै जब नगरी बैरी रहै न कोई।[२]

सहजोबाई की तीनों रचनाओं में सरलता, स्पष्टता है। विषय का निर्वाह सम्यक् रूप से हुआ है। सहज प्रकाश मे प्रसाद गुण और मिश्रित पदों में माधुर्य भाव परिलक्षित होता है। इनकी

---

[१] आतम पूजा अधिक जान ....कर सहजोबाईया को चाव। मिश्रित पद पृ० ५४

[१] मिश्रित पद पृ० ४९

[२] मिश्रित पद पृ० ५२

रचनाओं में गूढ़ ज्ञान के साथ ही नारी सुलभ कोमलता, सहजता, भावुकता, अनुभूति की तीव्रता सर्वत्र व्याप्त है। सहज प्रकाश, सातवार निर्णय एवं सोलह तिथि निर्णय में दोहा, चौपाई, अड़ियल और कुण्डलिया छन्दों का प्रयोग हुआ है। मिश्रित पद विभिन्न राग रागिनियों में निबद्ध है जैसे राग गौरी, सोरठ, मलार, बिलावल, काफी, आसावरी, बसंत, होरी धनासरी, होरी, ललित, रामकली, भैरो, ईमन, कड़खा, परज, जैजैवंती, पुरबी, कान्हरा, सारंग। इनसे यह सिद्ध होता है कि उन्हें संगीत की राग रागिनियों का भी ज्ञान था।

भाषा सरल, सरस, प्रांजल एवं स्वच्छ है। कहीं-कहीं राजस्थानी के शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं। पदों में ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। सम्पूर्ण रचना शान्त रस की है। स्थान-स्थान पर करुण, वीभत्स, श्रृंगार रसों का भी प्रयोग है। संस्कृत के तत्सम शब्द और मध्यकाल में बोल चाल की भाषा मे प्रयुक्त फारसी शब्द भी इनकी रचना में आये हैं, जैसे– अरज, खुशी, रब्बार, निसानी, गरीब, बरबाद आदि। अलंकारों का प्रयोग भी यत्र तत्र परिलक्षित होता है। यद्यपि काव्य कला का प्रदर्शन उनका उद्देश्य नहीं था तथापि स्वाभाविक रूप से अनेक अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाते हैं– उपमा के प्रयोग में तो वे सिद्धहस्त हैं।

"जैसे मोती ओस की"

"धुवाँ को सो गढ़ बन्यो"

"ऐसे ही जग झूठ है"

"पानी का सा बुलबुला ऐसा यह तन ऐसा होय"

"जैसे सँड़सी लोह क़ी, छिन पानी छिन आग"

ये उपमा अलंकार के कुछ उदाहरण हैं जिनका वे किसी आलंकारिक वर्णन के लिये नहीं वरन् संसार की वास्तविकता के प्रतिपादन के लिये प्रयोग करती हैं। रूपक अलंकार का भी एक उत्कृष्ट उदाहरण दृष्टव्य है :–

किरपा बल्ली हाथ में राखो। काहू ते दुख वचन न भाखो।

अतः सहजोबाई की रचना में काव्यत्वं के सभी गुण विद्यमान हैं। वे एक उत्कृष्ट कोटि की कवयित्री हैं, जिनका अभिव्यंजना कौशल उनकी सभी रचनाओं में परिलक्षित होता है। अपनी प्रांजल भाषा, भाव को वहन करने की शैली एवं काव्यत्व के अन्य सभी गुण सहजप्रकाश को उच्चकोटि के काव्यों की श्रेणी में रखते है।

वे सन्त परम्परा की एक उत्कृष्ट कवयित्री है, जिन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत के वास्तविक स्वरूप का वर्णन किया है। उनका ब्रह्म निर्गुण भी है और सगुण भी। वह अनाम भी है और संसार के सभी नाम उसके है। उसका कोई स्वरूप नहीं है और सभी स्वरूप उसके है। यही ब्रह्म भक्तों की पुकार पर निर्गुण से सगुण होता है। ब्रज और अयोध्या में भी वहीं अवतरित होता है। चौबीसों अवतार उसी ब्रह्म के हैं। सगुण अैर निर्गुण में सूर्य और धूप एवं जल एवं पाले की तरह कोई भेद नहीं है। संत परम्परा में उनका यह ब्रह्म्म विषयक विवेचन अपने में विरल है, यह उन्हें तुलसी के ब्रह्म विषयक विवेचन के समीप रखता है।

सहजोबाई हिन्दी सन्त परम्परा में विशिष्ट स्थान रखती हैं। वे भौतिक आकर्षणों से विरत ऐसी साधिका हैं जो जीवन और जगत के सत्य का साक्षात्कार करती हैं और अपना अनुभूत सत्य अपनी रचना के माध्यम से प्रकट करती है। उनका साहित्य संत साहित्य का मजबूत आधार है। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर अपने उदात्त गुणों से संत मत की परम्परा को पुष्ट करने वाली सहजोबाई स्त्री संत कवयित्रियों में शिरोमणि है। न केवल रचना वरन् आचरण से भी वे

संत परम्परा को पुष्ट करती है। संतमत में गुरु का महत्वपूर्ण स्थान है, इन्होंने अपने गुरु चरनदास को अपनी रचना में अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया है और अपना सम्पूर्ण जीवन गुरु सेवा, साधुसेवा, योग साधना एवं सत्संग में लगा दिया। संतमत में सहजोबाई का योगदान अमूल्य है। वे चरणदास के बावन शिष्यों में योग्यतम थीं।

(२) दयाबाई

दयाबाई भी सहजोबाई के ही समान चरणदासी सम्प्रदाय में दीक्षित थीं। चरणदास जी इनके भी गुरु थे। इन्होंने भी अपने बारे में कोई साक्ष्य नहीं दिया है केवल अपनी रचना "दयाबोध" के रचनाकाल का निर्देश उक्त ग्रन्थ में किया है-

संबत ठारा सै समै पुनि ठारा गये बीति।

चैत सुदी तिथि सातवीं भयो ग्रंथ सुभ रीति।।

इससे यह निश्चित है कि संवत् १८१८ की चैत सुदी सप्तमी को ये अपना ग्रन्थ लिख चुकी थीं, अतः इनका जन्मकाल १८वीं शती का उत्तरार्ध होना चाहिए। "वेलविडियर प्रिंटिंग वर्क्स" से प्रकाशित "दयाबाई की बानी" में इनका जन्म संवत् १७५०-१७७५ के मध्य माना गया है। यही मत गिरिजादत्त शुक्ल एवं ब्रजभूषण शुक्ल का "हिन्दी काव्य की कोकिलायें" एवं श्री गणेश प्रसाद द्विवेदी का "हिन्दी के कवि और काव्य" (भाग २) में भी है। डा० सावित्री सिन्हा के मतानुसार इनका जन्म संवत् १७७५ के मध्य में हुआ था।[१] डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार इनका जन्म सं० १८०० वि० है।[२] वियोगी हरि इनका समय सं० १७४० से १८२० वि० मानते हैं[३] आ० परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इन्होंने सं० १७५० से १७७५ तक सत्संग किया। तदनन्तर एकान्त सेवन किया। इनकी मृत्यु के बारे में अनुमान है कि कदाचित् सं० १८३० वि० में इन्होंने शरीर छोड़ा हो।[४]

---

१ मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० - ६७.

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृ० - २८९.

३ संत सुधासार पृ० - २०५. (दूसरा खण्ड)

४ उत्तरी भारत की संत परम्परा.

इनका जन्म भी मेवात के डेहरा नामक गाँव में हुआ था, जहाँ इनके गुरु चरणदास एवं सहजोबाई का जन्म हुआ था। ये ढूसर जाति की थीं एवं सहजोबाई की बहन कही जाती हैं, यद्यपि इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, केवल डेहरा नामक गाँव में जन्म होने से एवं ढूसर जाति का होने से यह संभावना बनती है। बड़थ्वाल जी ने दयाबाई का उल्लेख चरणदासजी की चचेरी बहन के रूप में किया है। ये गुरु चरणदास जी के सानिध्य में दिल्ली में ही रहती थीं। उनकी सेवा में जीवन व्यतीत किया एवं वहीं इन्होंने शरीर त्याग किया। "संतबानी संग्रह" (भाग-१) में इन्हें पारमार्थिक दृष्टि के साथ-साथ सांसारिक दृष्टि से भी सहजोबाई की बहन माना गया है।[१] नूतन भक्तकाल[२] एवं दयाबाई की बानी[३] में इन्हें सहजोबाई की गुरु बहन कहा गया है। ये बाल ब्रह्मचारिणी थीं।[४] दयाबाई के द्वारा लिखी हुई दो रचनायें प्राप्त होती हैं-

(१) दयाबोध

(२) विनयमालिका

विनयमालिका में दयादास नाम की छाप है, अतः कुछ लोग इसे इनकी रचना स्वीकार करने में संन्देह करते हैं, किन्तु दयाबोध में भी एक स्थान पर दयादास[५] नाम की छाप है, अतः निर्विवाद रूप से विनयमालिका भी इन्हीं के द्वारा रचित है। दयाबोध में इनकी तीन प्रकार की नामछाप मिलती है, दया, दया कुँवरि एवं दयादास। "दया कुँवरि" नाम छाप के विषय में ज्योति प्रसाद मिश्र "निर्मल" का मत है कि शायद ये राजघराने की स्त्री रही होंगी, क्योंकि "कुँवरि" का

---

[१] सत बानी संग्रह भाग- १ पृ० - १५४.

[२] हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियाँ पृ० १०६.

[३] दयाबाई की बानी मे जीवन चरित्र से

[४] सत सुधासार, वियोगीहरि पृ० २०५ दूसरा खण्ड.

[५] दयादास हरि नाम लै या जग मे ये सार, पृ० - ३ दयाबोध.

प्रयोग प्रायः राजकुमारियों के नाम के साथ होता है।[1] सम्भावना यही बनती है कि ये तीनो नाम छाप दयाबाई के ही हैं। दयाबोध एवं विनयमालिका में इनका प्रतिपाद्य सतगुरु महिमा गान और भगवान के भक्त-भय-भंजन, शरणागत प्रतिपालक स्वरूप का बोध कराना है। इनकी रचनाओं के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि ये उच्चकोटि की संत होने के साथ ही अत्यन्त ज्ञानी भी थीं, और उस ज्ञान से ही उन्हें गुरुतत्व, ईशतत्व एवं दोनों के कृपा प्रसाद अनुग्रह तत्व की वास्तविकता का बोध हो गया था। यही बोध उस परम तत्व से एकात्मकता एवं संसार से वैराग्य का कारण बना। दयाबोध में उनका प्रतिपाद्य गुरु महिमा, सुमिरन, सूर, प्रेम, वैराग्य, साध, अजपा का विषय विवेचन है, और विनयमालिका में भगवान के विविध अवतारों द्वारा भक्त जन कल्याण एवं उनका उद्धार वर्णन का विषय है। इन दोनों ही रचनाओं के द्वारा उन्होंने गुरु तत्व एवं निर्गुण- सगुण ब्रह्म की सापेक्षिक निर्भरता वर्णित की है, जो कि संसार के सभी भक्ति विषयक ग्रन्थों में विरल विषय है।

दयाबोध में दयाबाई के प्रतिपाद्य पर विचार करते हुये उन्हीं के द्वारा प्रयुक्त बिन्दुओं से विवेचन की प्रक्रिया प्रारम्भ करना उचित होगा।

(१) गुरु महिमा

संत मत में गुरु की महत्ता सर्वविदित है। उसी परम्परा का अनुसरण करती हुई दयाबाई भी गुरुतत्व को ईशतत्व से बड़ा प्रमाणित करती है। दयाबाई

[1] हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रियाँ पृ० - १०७. से उद्धृत.

"गुरु हैं ब्रह्म रूप भगवाना

एवं

चरनदास गुरु देव जू ब्रह्म रूप सुखधाम"

कहकर गुरु एवं ब्रह्म में अभेद स्थिति को व्यक्त करतीं हैं[1] ब्रह्म और गुरु की इसी अभेद्य सूचक स्थिति को दृढ़ता से प्रतिपादित करती हुई वे पुनः कहतीं है, "सतगुरु ब्रह्म स्वरूप है, मनुष्य भाव मत जान'' मनुष्य रूप में गुरु को सम्मुख देखकर भी उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिए। वे साक्षात् ब्रह्म स्वरूप हैं। इस प्रकार ब्रह्मतत्व एवं गुरुतत्व की अभेदता, एकात्मकता, नित्यता व्यक्त करते हुये वे अपने गुरु चरणदास के प्रति अपनी अनन्य भक्ति भावना तो प्रदर्शित करती हीं है, एक नवीन सत्य का उद्घाटन भी करती है। उसी अनन्य भावना की रौ में बहते हुये वे उस मनुष्य को पशुतुल्य समझती हैं, जो गुरु में देह भाव देखता है।[2]

गुरु कृपा से भक्ति भावना का विस्तार होता है,[3] अन्यथा योग, यज्ञ, जप, तप तो केवल ब्रह्म के विचार के साधन है। सतगुरु के समान इस संसार में दानी भी कोई नहीं है, जो शिष्य को अपने उपदेश दान से संसार सागर से पार कर देता हैं।[4] संसार रूप अंध कूप में कर्मों के बंधन से पड़े हुये जीव का ज्ञान रूपी डोर पकड़ा कर गुरु ही उद्धार कर सकता है।[5] गुरुतत्व ऐसा तत्व है जिसके समीप जाने से मन की चञ्चलता नष्ट हो जाती है, समस्त कामनाओं को विश्रान्ति मिल जाती है।[6] वह तीनों तापों (दैहिक, दैविक, भौतिक) का नाश करने वाले और

---

1 दयाबाई की बानी पृ० - २

2 वही पृ० - २

3 वही पृ० - १ दोहा १०

4 वही पृ० - १ दोहा ९

5 वही पृ० - १ दोहा ६

6 वही पृ० - १ दोहा ४

वास्तविक सुख को प्रदान करने वाले हैं।[1] गुरु के सदृश्य दीनों पर दया करने वाला दूसरा कोई नहीं है। शरणागत रक्षक एवं प्रतिपालक स्वरूप में वे शिष्य को विशिष्ट भावबोध प्रदान करते हैं।[2] दयाबाई इसीलिये मनसा-वाचाकर्मणा गुरु चरणों में चित्त वृत्ति निक्षेपण करती है, क्योंकि संसार-सागर से पार जाने के लिये अन्य कोई उपाय नहीं है, आनन्दावस्था की प्राप्ति, त्रिविध तापों के नाश, संसार रूप स्वप्न का त्याग और अमरलोक की प्राप्ति केवल गुरु कृपा से ही संभव है।[3] दयाबाई ब्रह्म तत्व एवं गुरुतत्व की अभेदता व्यक्त करते हुये भी गुरु को कबीर की भाँति भगवान के स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाला मानती हैं।[4]

सतगुरु के बिना ज्ञान की प्राप्ति, ध्यान की प्राप्ति नहीं होती। चौरासी लाख योनियों में जीव के भटकने के तथ्य को भी वे सत्य स्वीकार करती हैं, इस प्रकार जन्म और कर्म के बधन के फलस्वरूप योनि प्राप्ति के सिद्धान्त को सत्य मानते हुये इन योनियों में जीव के भटकने का कारण गुरु के द्वारा जीव के कर्म बंधनों का नाश न होना है। जिस जीव को गुरु की कृपा कटाक्ष प्राप्त हो जाता है, वह इन चौरासी लाख योनियों के चक्र में नहीं फँसता है।[5] ईश्वर के प्रति भक्ति एवं अशुभ कर्मों का त्याग गुरु के बिना नहीं होता है।[6] गुरु में ही वह शक्ति है जो काग गति को हंस गति में परिवर्तित करके समस्त संशयों का नाश कर देती है।

पलटै करै काग सूँ हंसा।

मन को मेटत है सब संसा।।

---

[1] वही पृ० - १ दोहा ५

[2] वही पृ० - २ दोहा ११

[3] वही पृ० - २ दोहा १४

[4] वही पृ० - २ "दया सुखी कर देत है हरि सरूप दरसाय"।

[5] वही पृ० - २

[6] वही पृ० - २

गुरु करूणा के सागर, कृपा सागर हैं, हृदय की गॉठ को भलीभाँति खोल कर भ्रमो का नाश कर सुख-सागर में निवास कराते हैं।[1]

(२) सुमिरन का अंग

सुमिरन का अंग में दयाबाई भगवान के नाम स्मरण को महत्व देती हुई नाम स्मरण के फलस्वरूप अनेक जीवों के उद्धार के लोक विश्रुत उपाख्यानों का उदाहरण देती है। नाम स्मरण की महत्ता प्रतिपादित करती हुई दयाबाई सगुण ईश्वर के बोधक मनमोहन, गोविन्द, राम, नारायण आदि नामों का उल्लेख करती हैं।

ये हरिनाम भी उन्हें ब्रह्म स्वरूप सतगुरु से ही प्राप्त हुआ है, जिससे उनके समस्त कार्य पूर्ण हो जाते हैं।-

श्री गुरु देवदया करी, मैं पायौं हरि-नाम।

एक राम के नाम तें होत सॅपूरन काम ।।[2]

नामस्मरण से काल सर्प और दुख की ज्वाला से बचा जा सकता है,[3] और सबसे वडी बात तो ये है कि नाम स्मरण के फलस्वरूप मनुष्य स्वयं हरि ही हो जाता है, और उस परमतत्व का भेद जान जाता है।[4] यहाँ पर दयाबाई क़बीर के उस मंतव्य से पूर्णतया साम्य रखती हैं जब

---

[1] वही - पृ० २

[2] वही पृ० - ३

[3] वही पृ०- ३

[4] वही पृ०- ३ हरि भजते हरि ही भये पायौ भेद अपार।

वे कहते है- कि "लाली देखन मैं गई मैं भी हो गयी लाल"। राम नाम स्मरण से अनेक पापों का नाश हो जाता है।[1]

हरिस्मरण के प्रसंग में वे उन हरि विमुखों की भर्त्सना करती हैं और उनके सम्मुख मुख खोलने से मना करती हैं, और अपने हृदय को केवल राम नाम में रत रहने वालों के सामने व्यक्त करने का उपदेश देती हैं।[2] हरि नाम स्मरण से नरदेह में ही नारायण की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये संसार में आने का सबसे बड़ा लाभ यही है कि भगवान का स्मरण किया जाय, क्योंकि पांच तत्वों से निर्मित यह शरीर छल रूप है क्षण में भंग होने वाला है-

दया जगत में यह नफो, हरि सुमिरन कर लेह।[3]

छल रूप छिन-भंग है, पाँच तत की देह।।

इस संसार सागर से पार जाने का केवल एक ही रास्ता है कि नौका हरि नाम की हो, खेवैया सतगुरु हो और साधु जनों का संग हो।[4]

इस प्रकार नाम स्मरण पापों का नाश करने वाला, पापियों का उद्धार करने वाला, मन को निर्मल करने वाला, नारायण को नर देह में ही मिलाने वाला है।

---

1 वही पृ०- ४ दोहा ६
2 वही पृ०- ४ दोहा ५
3 वही पृ०- ४
4 वही पृ०- ४- दोहा १५

(३) सूर का अंग

सूर का अंग में दयाबाई ने साधक की तुलना शूरवीर से की है। साधक गोबिन्द रूपी गदा को लेकर विषय वासना रूप बुरे कर्मों का नाश करता है। ज्ञान रूपी अस्त्र को लेकर अज्ञान और अविधा रूप शत्रु से युद्ध करता है। अहंकार का नाश करके राम रूपी यश को ग्रहण करता है, स्वयं के मरण भय को दूर करके शत्रु को मार डालता है। वही साधक रूप शूर सराहनीय है जो कबन्ध राक्षस के सदृश विपरीत स्थितियों में भी लड़ता रहे। वह लोक लज्जा और कुल की मर्यादा को तोड़कर बंधनरहित हो जाता है। मोह, माया का दलन करके, सर्वस्व त्याग कर वह अपने गंतव्य तक पहुँचता है-

सीस उतारै भुँइ धरै, जब पावै निज ठाम।[१]

(४) प्रेम का अंग

प्रेम ही मूलत-सर्वव्यापी तत्व है, लेकिन प्रेम तत्व की प्राप्ति और अनुभव बड़ी ही कठिन परीक्षा है। ये प्रेम तत्व ही है जो जगत के सभी जीवों में व्याप्त है, और इसी की खोज से जीव ब्रह्म तत्व को खोज लेता है। दयाबाई प्रेम की इसी उन्मत्तावस्था को व्यक्त करती हैं। जिसके हृदय में प्रेम तत्व प्रकट हो जाता है उसे शारीरिक कष्ट, क्लेष की सुधि नहीं रह जाती। राजा और रंक का भेद उसके लिये समाप्त हो जाता है। इस प्रेम रस की अनुभूति अवर्णनीय है, चित्त वृत्तियॉं प्रेम रस में सराबोर होकर लौकिक क्रिया व्यापारों को भूल जाती हैं- यही प्रेम की तन्मयता ब्रह्म से तादात्म्य की स्थिति उत्पन्न करती है-

---

१ वही पृ०- ५ दोहा ८

प्रेम मगन गद्‌गद वचन पुलकि रोम सब अंग।

पुलकि रह्यों मन रूप में दया न ह्वै चित भंग।।[1]

प्रेम की उन्मत्तावस्था का चित्रण भी दयाबाई बड़ी कुशलता से करती हैं--

कहूँ धरत पग परत कहूँ डिगमिगात सब देह।

दया मगन हरि रूप में दिन-दिन अधिक सनेह।।

हँसि गावत रोवत उठत गिरि-गिरि परत अधीर।

पै हरि रस चसको दया सहै कठिन तन पीर।।[2]

प्रेम की पीड़ा जब बहुत अधिक बढ़ जाती है, तो उन्हें दिन-रात कभी भी चैन नहीं पड़ता। इस विरह व्यथा का कारण प्रेमी से मिलने की उत्कंठा है। जन्म-जन्मान्तर से बिछुड़े प्रेमी से मिले बिना अब उनसे रहा नहीं जा रहा है। इस अटपटे प्रेम पंथ पर चलने वाले प्रेमी की स्थिति, पीड़ा का भान किसी को नहीं होता, इसका अनुभव तो केवल वह ही कर सकता है, जो विरही हो या जिसने इस पीड़ा का अनुभव किया हो। मीरा की भाँति (घायल की गति घायल जाने कि जो कोई घायल होय) वे भी "कै मन जानत आपनों कै लागी जेहिं पीर" कहकर उस टीस को व्यक्त करती हैं।

इस प्रेम पंथ पर चलती हुई दया अपनी असामान्य स्थिति को व्यक्त करती हैं--

बौरी ह्वै चितवत फिरूँ हरि आवैं केहि ओर।

छिन उठूँ छिन गिरि परूँ राम दुखी मन मोर ।।

---

[1] दया बोध पृ०- ६ दोहा ६

[2] वही पृ०- ६ दोहा - ७-८.

प्रेमास्पद का रास्ता देखते-देखते उनके नेत्र और हाथ थक गये हैं, लेकिन प्रेम सिन्धु में पड़कर पुनः निकलना असम्भव है, इसी मार्मिक स्थिति का चित्रण दयाबाई करती हुई कहतीं है-

काग उड़ावत कर थके, नैन निहारत बाट ।

प्रेम सिन्धु में परयो मन ना निकसन को घाट ।।[1]

जिसके हृदय में प्रेम तत्व प्रकट हो जाता है वह ईश्वर की वास्तविकता को जान लेता है, ईश्वर प्रेम रूप है। प्रेम के वशीभूत है, प्रेम का अनुभव ईश्वरानुभव है --

प्रेम पुञ्ज प्रगटै जहँ तहँ प्रगट हरि होय । [2]

(५) बैराग का अंग

"बैराग का अंग" में दयाबाई ने संसार की निःसारता, क्षण भंगुरता का वर्णन किया है। यह संसार स्वप्न की भाँति असत्य है।[3] इस संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है। सराय के यात्री की भाँति यहाँ प्रतिपल यात्री बदलते रहते हैं।[4] यह ओस के मोती के समान क्षण में नष्ट होने वाला है।[5] काल इतना प्रचण्ड है कि तीनों लोकों के सभी जीवों को घेर कर ले जाता है।[6] इसका उदर इतना विशाल है कि राजा, रानी, छत्रपतियों, सबको ग्रसता हुआ भी जरा सी देर के लिये नही

---

1 दयाबोध पृ० ६
2 वही पृ० ७
3 वही पृ० ७
4 वही पृ० ७
5 वही पृ० ७
6 वही पृ० ८

तृप्त होता है।[1] काल रूपी नदी में सारे जीव भजन नौका के बिना बहे जाते हैं। बार-बार उत्पन्न होते हैं धार बार नष्ट हो जाते हैं।[2]

नाम, रूप के मोहक जाल में न फँसने के लिये जीव मात्र को प्रबोधित करती हुई वे नाम, रूप को वायु के द्वारा तितर-बितर कर दिये गये बादल के सदृश क्षणभंगुर कहती है।[3]

संसार में जो भी आया है वह अवश्य ही मरेगा इस तथ्य का प्रतिपादित करती हुई वे जीव को होशियार करती हैं-

तात मात तुम्हरे गये तुम भी भये तयार ।

आज काल्ह में तुम चलौ दया होहु हुसियार ।।[4]

(६) साध का अंग

साध का अंग में साधुजनों (सज्जनों) के लक्षण बताये हैं। दयाबाई ने जीव और साधु में विभेद किया हैं जब तक संसार के प्रति राग भावना है तक तक वह जीव हैं इस राग भावना के तिरोहित होते ही साधु का परमपद प्राप्त होता है।[5] "जगत सनेही जीव है राम सनेही साध" कहकर वे जीव में तो साधु तत्व है जो संसार के प्रति राग के समाप्त होते ही जाग्रत होता है किन्तु साधु मे जीव भाव नहीं है, इस मत की पुष्टि करती हैं। जीव का तात्पर्य ही है अज्ञान

---

1 वही पृ० ८
2 वही पृ० ८
3 वही पृ० ८
4 वही पृ० ७
5 वही पृ० ८

तिमिराछन्न जीव, जिसे प्रबोधन की आवश्यकता है। वे साधु में जीव तत्व नहीं देखती क्योकि साधु प्रबोधित हो चुका है, उसकी समस्त वृत्तियॉ समाप्त हो चुकी है। सम्पूर्ण भक्तिकालीन साहित्य मे यह सर्वथा नवीन भाव परिलक्षित होता है।

इस साध प्रकरण में वे साधु की संगत्ति को दुर्लभ मानती हैं, और उसके प्राप्त हो जाने के पश्चात समस्त भेदों के ज्ञान होने का रहस्य भी बताती है।[1] वे षट्विकारों (काम क्रोध मद मोह, मत्सर और लोभ) से रहित रहते है, ब्रह्म भाव में निमग्न रहते है,[2] राम के अतिरिक्त दूसरे भाव में लिप्त नहीं होते[3] सिंह के समान है जैसे सिंह की गर्जना से समस्त छुद्र जीव भाग जाते हैं, वैसे ही साधु के अनुभव के ज्ञान की गर्जना से कर्मो के भ्रम और अज्ञान नष्ट हो जाते है।[4]

सत्संगति त्रिविध ताप (दैविक, दैहिक, भौतिक) को मिटाने वाली,[5] जीव की दुविधा नष्ट करने वाली[6] क्षण भर में ही समस्त पापों को नष्ट करके हरि नाम के प्रति रति उत्पन्न करने वाली,[7] करोड़ों यज्ञों, व्रतों, नियमों का पुण्य प्रदान करने वाली[8] विषय व्याधि मिटाकर सुख शान्ति प्रदान करने वाली है। इसीलिये शेष, महेश, सभी साधु की महिमा का गायन करते हैं।

हर्ष, शोक से रहित, मान, बड़ाई का त्याग करके आठों प्रहर हरिनाम स्मरण करने वाला साधु इस संसार में विरला है। ऐसे साधु की संगति ही कलि काल में संसार सागर से पार जाने के जिये सहायक हो सकती है :–

---

1. दयाबोध पृ० ८ साध का अंग दोहा २
2. दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा ४
3. दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा ५
4. दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा ६
5. दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा ६
6. दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा ८
7. दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा ९
8. दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा १०

कलि केवल संसार में और न कोउ उपाय।

साध संग हरि नाम बिन मन का तपन न जाय।।[1]

(७) अजपा का अंग

संतमत में जप (काष्ठ की माला द्वारा नाम जप की गणना) से परे अजप की प्रक्रिया होती है, जो प्रत्येक श्वास–प्रश्वास के साथ सम्पन्न होती है, अतः गणना काष्ठ की माला के साथ न होकर प्रत्येक श्वास की डोर से होती है। जब श्वास की स्थिति होती है तब सः (ब्रह्म) की और जब प्रश्वास की स्थिति होती है तब अहम् (जीव) की प्रतीति होती है यही अजपा जाप है, जो "सोऽह्म्" के रूप में ब्रह्म और जीव की अभेद अवस्था का परिचायक है।

दयाबाई ने अजपा जाप की प्रक्रिया का उल्लेख किया है, और यह स्पष्ट किया है कि इस प्रक्रिया का ज्ञान उन्हें अपने गुरु चरणदास से प्राप्त हुआ है। उनके अनुसार, "पद्मासन में अवस्थित होकर नासिका के आगे दृष्टि रखकर, श्वाँस की गति में मन को एकाग्र करके, सभी इन्द्रियों को वशीभूत करके बिना जिह्वा और करमाल के द्वारा केवल श्वास-प्रश्वास से अजपा जप सम्पन्न होता है और इसी प्रक्रिया के अनन्तर त्रिकुटी (दोनों भौहों के मध्य का स्थान) में परब्रह्म का दर्शन होता है।[2] इस अजपा जप की स्थिति में श्वास-श्वास की प्रक्रिया को नटिनी के करतब से उपमित करती हुई वे कहती हैः–

प्रथम पैठि पाताल सूँ धमकि चढ़ै आकास।

दया सुरति नटिनी भई, बांधि बरत निज श्वॉस।।

---

[1] दयाबोध पृ० ९ साध का अंग दोहा १५

[2] दयाबोध अजपा का अंग पृ० १०

छिन छिन में उतरत चढ़त कला गगन में लेत।

दया रीझि गुरुदेव जू दान अभय पर देत।।[1]

संत मत में अजपा जाप के साथ अनाहत नाद की प्रक्रिया भी संचालित होती है। अनाहत नाद अर्थात् ध्वनिरहित नाद। क्या किसी ऐसी ध्वनि की परिकल्पना हो सकती है, जो ध्वनिरहित हो, किन्तु जैसे अजप की स्थिति में जप सम्भव हो जाता है, वैसे ही ध्वनिरहित स्थिति में नाद का श्रवण भी हो जाता है, और इस अनाहत नाद की प्रक्रिया में घंटा, ताल, मृदंग, मुरली और सिंह गर्जना का स्वर योगी ध्यास्थ अवस्था में सुनता है। "सुनत नाद अनहद दया"[2] कहकर दयाबाई ने स्वयं की उस अवस्था का उल्लेख किया है, जिस अवस्था में ये दोनो प्रक्रियायें सम्पन्न होती हैं, और अब वे ऐसी स्थिति को प्राप्त हो गई हैं, जब उस अनन्त सत्ता से उनका साक्षात्कार होता है और तन मन सब शीतल हो जाता है–

अनँत भान उँजियार तहँ प्रगटी अद्भूत जोत।

चकचौधी सी लगत है मनसा सीतल होत।

सेत सिंहासन पीव को महा तेज मय धाम।

पुरूषोत्तम राजत तहाँ 'दया' करत परनाम।।[3]

श्वेत सिहांसन पर विराजमान महातेस्वी प्रियतम के दर्शन होते ही "समरसता की स्थिति"[4] उत्पन्न होती है और जागतिक सत्य की अनुभूति भी होती है, कि एक ही चेतन रूप आत्मतत्व

---

[1] दयाबोध अजपा का अंग पृ० ११

[2] दयाबोध अजपा का अंग पृ० ११

[3] दयाबोध पृ० ११ अजपा का अंग

[4] दयाबोध पृ० १५ अजपा का अंग

पिंड और ब्रह्माण्ड सबमें व्याप्त है।[1] वह न कोई कार्य करता है और न किसी वस्तु का भोग ही करता है। वह किसी कर्म के परिणाम का भी भोग नहीं करता है।[2] एक ओर "चेतन रूपी आत्मा बसै पिंड ब्रह्मंड" कहकर समस्त चेतन प्राणियों में उसका निवास स्वीकार करती हैं और दूसरी ओर "नाकरता ना भोगता अद्वै अचल अखंड" कहकर वह कोई कर्म नहीं करता है, न भोग करता है, अर्थात् चेतन रूप होते हुये भी किसी कार्य से उसका सम्बन्ध नहीं है, तो फिर चेतना किसकी है, वह चेतन स्वरूप क्यों है। यदि वह चेतन स्वरुप है और केवल एक है दूसरा कोई नहीं है, समस्त प्राणियों में व्याप्त चेतन तत्व उसी का चेतन स्वरूप है, तो कुछ न करने, कुछ भोग न करने की स्थिति कहाँ है। जब सब ब्रह्मस्वरूप है, तब सारे संचालित होते हुये कार्य व्यापार ब्रह्म द्वारा किये गये कार्य व्यापार है तब ये द्वैत भाव कहाँ से आया। वह अद्वैत है तो कर्म करने वाला, भोग करने वाला दूसरा कौन हुआ। पुनः मणिका (माला) में डोर के सदृश जड़-चेतन, कीट-पतंग सब में उसी एक का वास स्वीकार करती है--

वही एक व्यापक सकल ज्यों मनिका में डोर।

थिर चर कीट पतंग में 'दया' न दूजो और।[3]

इसी ज्ञान के प्रकाश में वे अविद्या रूप अन्धकार के नाश को स्वीकार करती है,[4] और स्वयं की वास्तविकता का ज्ञान भी प्राप्त करती हैं, कि जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है, सब में एक ही तत्व का निवास है--

जीव ब्रह्म ऑतर नहिं कोय।

एकै रूप सर्ब घट सोय।।[5]

---

1. दयाबोध पृ० १२ अजपा का अंग
2. दयाबोध पृ० १२ अजपा का अंग
3. दयाबोध पृ० १२ अजपा का अंग
4. दयाबोध पृ० १३ अजपा का अंग
5. दयाबोध पृ० १३ अजपा का अंग

उनके अनुसार ब्रह्म का स्वरूप कुछ इस तरह है–

जग बिबर्त सूँ न्यारा जान।

परम अद्वैव रूप निर्बान।।

बिमल रूप व्यापक सब ठाँई।

अरध उरध मधि रहत गुसॉई।।

महा सुद्ध साच्छी चिद्रूप।

परमातमा प्रभु परम अनूप।।[1]

इस शुद्ध, बुद्ध, साक्षी, चित्स्वरूप, विमल, सर्वव्यापी ब्रह्म की सत्यता का बोध ही इस मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है, इस बोध के पश्चात किसी प्रबोधन की आवश्यकता नहीं रह जाती।

विनय मालिका

दयाबाई की दूसरी रचना है "विनय मालिका"। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि यह विनय भाव की रचना है, इसमें विनय भाव के रत्न एक लड़ी में पिरोये से प्रतीत होते हैं। विनय मालिका के रचना वैशिष्ट्य के बारे में स्वयं दयाबाई का कथन है–

चार वेद छः सास्त्र हैं, अरु दस आठ पुरान।

सब ग्रन्थन को सोधि कै, कीन्हीं विनय बखान।।[2]

---

[1] दयाबोध पृ० १३ अजपा का अग

[2] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० २६

इसे हम तुलसीदास की विनयपत्रिका के अनुक्रम में रख सकते हैं। इस रचना में वे ईश्वर के सभी अवतारों की चर्चा करती हैं, और उनके द्वारा उद्धार किये गये प्राणियों को भी चर्चा करती हैं। इस भगवद्यश वर्णन प्रसंग में वे तारे जाने वाले (उद्धारणीय) प्राणियों के क्रम में स्वयं को रखकर अपने उद्धार की भी प्रार्थना करती हैं। इस रचना में विनय भाव की पराकाष्ठा देखते ही बनती है। दयाबाई के सारे नाते केवल भगवान से ही हैः–

निरपच्छी के पच्छ तुम, निराधर के धार।
मेरे तुम ही नाथ इक, जीवन प्रान अधार।।
काहू बल अप देह को, काहू राजहि मान।
मोंहि भरोसो तेरही, दीन बन्धु भगवान।।
हौं गरीब सुन गोबिंद, तुही गरीब निवाज।
दयादास आधीन के, सदा सुधारन काज।।
हौं अनाथ के नाथ तुम, नेक निहारों मोंहि।
दयादास तन हे प्रभु, लहर मेहर की होहि।।[1]

इसी क्रम में वे उस भगवान से माता पुत्र के संबंध के अनुसार स्वयं की गल्तियों को माता द्वारा पुत्र की गल्तियों के उदाहरण से भूल जाने को कहती हैं, क्योंकि माता और पुत्र के संबंध से अधिक प्रगाढ़ और स्वार्थरहित संबंध और कोई नहीं है, और उसमें भी उज्जवल पक्ष पुत्र का नहीं माता का है।

---

1 विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १६

लाख चूक सुत से परै, सो कछु तजि नहिं देह।

पोष चुचुक ले गोद में, दिन दिन दूनों नेह।।

नहिं संजम नहिं साधना, नहिं तीरथ व्रत दान।

मात भरोसे रहते है, ज्यों बालक नादान।।[1]

कर्म पाश में बंधे हुये जीव को केवल बन्दीछोर (कृष्ण का एक नाम) ही छुड़ा सकते हैं, निराशा के स्वर में वे उसी बन्दीछोर का स्मरण करती हैं–

कर्म फॉस छूटै नहीं, थकित भयो बल मोर।

अब की बेर उबारि लो, ठाकुर बन्दीछोर।।[2]

इस रचना में भगवान के विविध अवतारों के भक्त-भय-भञ्जन स्वरूप की झॉकी दैन्य भाव में प्रस्तुत की गई है। वे कूर्मरूप, नृसिंहरूप, परशुराम, गिरिवरधारी, ग्रहसाल (गज-ग्राह के प्रसंग में ग्राह का वध करने वाले) कंस कें काल स्वरूप, दशमुख रावण के कालस्वरूप छवियों का स्मरण करती हैं। इसी नाम स्मरण के क्रम में वे अनुप्रासों की अनुपम सृष्टि करती हैं–

कान्हा कूरम कृपानिधि, केसव कृश्न कृपाल।

कुंजबिहारी क्रीटधर, कंसासुर को काल।।

राम रमैया रमापति, रामचन्द्र रघुवीर।[3]

राघव रघुबर राधवा, राधारमन अहीर।।

---

1. विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १७
2. विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १५
3. विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १४

ऐसे भक्तवत्सल भगवान के ही सम्मुख वे शीश झुका सकती है, झगड़ा भी केवल वे उसी से कर सकती हैं–

सीस नवै तौ तुमहिं कूँ, तुमहि सुँ भाखूँ दीन।

जो झगरौं तौ तुमहिं सूँ, तुम चरनन आधीन।।[1]

क्योंकि ये संसार उनका है, सबकुछ उनका है। दयाबाई भी उन पर इसी भाव से आश्रित है यदि वे उन पर दया नहीं करते तो हँसी किसकी होगी, भगवान की ही न :–

देह धरौ संसार में तेरी कहि सब कोय।

हाँसी होय तो तेरिही, मेरी कछु न होय।।[2]

पुनः चिड़िया के असहाय, उड़ने में असमर्थ बच्चे के समान[3] स्वयं की असमर्थता और सभी सांसारिक नातों से रहित स्वयं की कष्टपूर्ण एवं त्रासद स्थिति में [4] अनाथों के नाथ,[5] गरीब नेवाज[6] अधमों का उद्धार करने वाले दयासिंधु[7] के सम्मुख अपने कुटिल कर्मों की पोटली खोल ही देती है :–

जेते करम हैं पाप के, मोसे बचे न एक।

मेरी ओर लखो कहां, विर्द बानों तन देख।।[8]

---

[1] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १९

[2] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १७

[3] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १९ (चिरहटा के पंख ज्यों)

[4] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १८ (हैं अनाथ तोहिं विनय करि)

[5] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १६ (हौ अनाथ के नाथ तुम)

[6] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १६ (तुही गरीब नेवाज)

[7] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १६

[8] विनय मालिका दयाबाई की बानी पृ० १६

असंख जीव तरि तरि गये लै ले तुम्हरो नाम।

अब की बेरी बाप जी परो मुगध से काम।।

दयाबाई ने भगवान के पतितों का उद्धार करने वाले और दीनों की रक्षा करने वाले दोनों स्वरूपों का वर्णन किया गया है। उन्होंने लोक विश्रुत उपाख्यानों में वर्णित भाव सम्पदाओं का प्रयोग विनय मालिका में किया है। इस तरह गजग्राह प्रसंग, प्रह्लाद हिरण्याकश्यप प्रसंग, द्रौपदी-दुःशासन प्रसंग, अजामील-गणिका- पूतना-यमलार्जुन-राजानृग-विद्याधर-रावण के उद्धार प्रसंग, और सुदामा, धना जाट, नामदेव, पीपाजी, कबीर, रैदास, वाल्मीकि, शबरी, करमातेलिन, सदन कसाई, सेननाई, विदुर, नरसी मेहता, आहिल्या, ध्रुव, तुलसी, मीरा, आदि पर किये गये कृपा प्रसंग वर्णित हैं।

विनय के सात स्तम्भ होते हैं, जिनसे विनय भाव में पूर्णता आती है। ये सात स्तम्भ हैं दीनता, मानमर्षण, भयदर्शन, भर्त्सना, आश्वासन मनोराज्य और विचारणा। प्रथम चार स्थितियाँ अहंकार के नाश में सहायक होती हैं, इनमें दीनता प्रमुख है। बाद की तीन स्थितियों से निराशा का निवारण होता है, इनमें आश्वासन प्रमुख है। विनय-मालिका में विनय की इन सातों स्थितियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं - जैसे-

दीनता - हौं पाँवर तुम हौ प्रभु, अधम उधारन ईस।

दयादास पर दया हो, दयासिंधु जगदीस।।[1]

मानमर्षण-जेते करम हैं पाप के, मोसे बचे न एक।

मेरी ओर लखो कहा, बिर्द बानो तन देख।।[2]

---

[1] दयाबाई की बानी पृ० १६

[2] दयाबाई की बानी पृ० १६

भयदर्शन-भवजल नदी भयावनी, किस बिधिउतरूँ पार।[१]

भर्त्सना- ठग, पापी, कपटी, कुटिल, ये लच्छन मोंहिमांहि।

जैसो तैरो तेरही, अरू काहू को नांहि।।[२]

जौ मेरे करमन लखो, तौ नहिं होत उबार।[३]

आश्वासन-काहू बल अप देह को, काहू राजहि मान।

मोंहि भरोसो तेरही, दीनबन्धु भगवान।[४]

मनोराज्य-दुख तजि सुख की चाह नहिं, नहिं बैकुंठ बेवान।

चरन कमल चित चहतं हौं, मोहि तुम्हारी आन।[५]

विचारणा- बीचहिं बीच बिबस भया, पॉच पचीस के भीर।

ऐंचा, खैंची करत हैं, अपनी-अपनी ओर।।

इन क्रमागत सातों स्थितियो से विनय भाव पूर्ण होता है। इनमें स्वयं की तघुता और आराध्य की पूर्णता का स्वीकार, जगत् की वास्तविकता, पुनः स्वयं के योगक्षेम का भार आराध्य पर डालकर चिंतामुक्त जाने की स्थिति यही जीव के बंधनों का नाश करने वाले और कल्याण कारी तत्व हैं।

---

१ दयाबाई की बानी पृ० १५
२ दयाबाई की बानी पृ० १६
३ दयाबाई की बानी पृ० १८
४ दयाबाई की बानी पृ० १६
५ दयाबाई की बानी पृ० १७

विनय भाव के पुष्ट होने पर जीव के प्रभुतासंपन्न ईश्वर के शरणापन्न होने की स्थिति भी विनय मालिका में उल्लिखित है। अपनी सीमा में बद्ध संसारी जीव आत्म कल्याणर्थ, शरणागत होता है। शरणागति के छः तत्व होते हैं-

अनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्।

रक्षिस्यतीति विश्वासः, गोप्तृत्व वरणं तथा ।।

आत्म निक्षेप कार्पण्ये, षड्विधा शरणागतिः।।[1]

अर्थात् अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का निवारण, प्रभु रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास, रक्षक के रूप में आराध्य का वरण, आत्मसमर्पण और दीनता ये शरणागति के छः तत्व हैं, जिनसे शरणागति में पूर्णता आती है। प्रथम दो तत्व तो विरोधमूलक हैं अर्थात जब अनुकूलता का संकल्प होगा तो प्रतिकूलता का निवारण अपने आप हो जायेगा। इसके सर्वप्रमुख अंतरंग तत्व हैं, रक्षक के रूप मे वरण और आत्मसमर्पण। ये छहों स्थितियें विनय मालिका में उल्लिखित हैं -

१. अनुकूलता का संकल्प[2]

हौं गरीब सुन गोबिन्दा, तुही गरीब-निवाज।

दयादास आधीन के सदा सुधारन काज।।

२. प्रतिकूलता का निवारण[3]

किस विधि रीझत हौ प्रभु, का कहि टेरूँ नाथ।

लहर मेहर जब हीं करों, तब ही होऊँ सनाथ।।

---

[1] अहिर्बुध्न्य संहिता द्वितीय खण्ड ३७-१२८-३९

[2] दयाबाई की बानी पृ० १६

[3] दयाबाई की बानी पृ० १४

३. रक्षा का विश्वास

भयमोचन अरू सर्बभय; व्यापक अचल अखण्ड।

दया सिंधु भगवान जू, ताकै-सिव ब्रह्मंड[1]

४. रक्षक के रूप में वरण

पैरत थाकी हे प्रभु, सूझात वार न पार।

मेहर मौज जब हीं करों, तब पाऊँ दरबार।[2]

साहिब मेरी अरज है सुनिये बारम्बार।[3]

५. आत्मसमर्पण

चौरासी वरखान को, दुःख सहो नहिं जाय।

दयादास तातो लई; सरन तिहारी आय॥[4]

६. कार्पण्य

कर्मरूप दरियाव से, लीजै मोहिं बचाय।

चरन कमल तर राखिये, मेहर जहाज चढ़ाय॥[5]

इस तरह से विनय मालिका में विनय और शरणागति के भाव अपने सभी तत्वों के साथ सुपुष्ट रूप में परिलक्षित होते हैं। दयाबाई ने सब कुछ ईश्वर के ऊपर छोड़ दिया है जो करना हो करें, क्योंकि यदि उन्होंने उनपर दया दृष्टि नहीं की तो अपयश का भागी भी उन्हें ही बनना

---

1. दयाबाई की बानी पृ० १४
2. दयाबाई की बानी पृ० १५
3. दयाबाई की बानी पृ० १५
4. दयाबाई की बानी पृ० १५
5. दयाबाई की बानी पृ० १६

पड़ेगा। "हाँसी होय तो तेरिही मेरी कछू न होय।"[1] कहकर सबकुछ उसे ही समर्पित कर देती है, क्योंकि यदि उन्हे अपने विरद का स्मरण है तो वे अवश्य उनकी पुकार सुनेगें -

अधम उधारम, बिरद सुन, निडर रहयौ मन माँहि।

बिर्द बानो की हार देव, की तारो गहि बाँहिं।।[2]

दयाबाई की दोनों रचनायें दयाबोध और विनयमालिका ज्ञान, योग, और भक्ति का सुन्दर समन्वय है। ये गूढ़ ज्ञान के साथ सरल भक्ति को बड़े सहज रूप में प्रस्तुत कर देती है। विनयमालिका तो सुन्दर भावों की लड़ी है। विनय भाव में डूबी दयाबाई ईश्वर से प्रश्न करती है:–

किस विधि रीझत हौ प्रभु, का कहि टेरूँ नाथ।

आप स्वयं ही अपने प्रसन्न होने की विधि और जो नाम आपको प्रिय हो बताइये, तो दयाबाई की ईश्वर पर दृढ़ भक्ति स्पष्ट हो जाती है। अपनी रचना का प्रारम्भ भी वे इन्हीं दैन्य भाव पूरित पंक्तियों से करती हैं।

दयाबाई का प्रतिपाद्य भक्ति है। काव्य कला का प्रदर्शन नहीं, तथापि उनकी दोनों रचनाओ में कहीं काव्यत्व दोष परिलक्षित नहीं होता। भाषा, भाव, रस, छन्द, अलंकार की दृष्टि से रचनाओं का अपना वैशिष्ट्य है। भाषा सरल, सरस प्रवाहवान है। भाषा का लालित्य और सौष्ठव अपने में अनूठा है। भाषा भावानुसार प्रसंगों को वहन करने में समर्थ है। दयाबोध में दोहा, चौपाई और सोरठा छन्दों का प्रयोग हुआ है। विनय मालिका दोहा छन्द में रचित है।

---

[1] दयाबाई की बानी पृ० १७

[2] दयाबाई की बानी पृ० १७

इनकी रचना में ब्रज और खड़ी बोली का समन्वित रूप प्रयुक्त हुआ हैं। संस्कृत और फारसी के शब्द यत्र-तत्र दृष्टव्य हैं। जैसे मेहर, मिहरबान, गरीब, कसाई, कबूली, साहिब आदि फारसी शब्द प्रयुक्त हुये है। संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी स्थान स्थान पर हुआ है। यथा सर्वमय, ब्रह्माण्ड, विश्वरूप, बाधाहरन, विसंभर, पुरषोत्तम, पीताम्बर, अविनाशी, निरंजन निःकलंक आदि। किरीटधर, परमहंस खड़ी बोली के प्रभाव से क्रीटधर और पर्महंस हो गया है।

इनकी रचना शान्त और वियोग श्रृंगार की है। कबीर की भॉति वे भी अनन्त प्रतीक्षा में रत विरहिणी हैं, जो बावरी सी अपने प्रिय का मार्ग देखती रहती है–

बौरी ह्वै चितवत फिरूँ, हरि आवै केहिं ओर।

छिन उठूँ छिन गिर परूँ, राम दुखी मन मोर।।

दयाबाई की रचनायें भावात्मकता के साथ साथ कलात्मकता से भी युक्त है। अनेक अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग उनकी रचनाओं में हुआ है। जगत की अनित्यता के वर्णन क्रम में वे उपमा अलंकार का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग करती है :–

"जैसो मोती ओस का, तैसो यह संसार।"

"जैसो बास सराय को, तैसो यह जग होय।"

गुरु की कृपा से अज्ञान उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से सारा अन्धकार दूर हो जाता है। सूर्य के द्वारा अन्धकार नाश की शाश्वत् प्रक्रिया का गुरु कृपा

के सन्दर्भ में प्रयोग संत परम्परा में अनेक कवियों ने किया है। दयाबाई का इस संबंध में कथन है कि :–

जैसे सूरज के उदय, सकल तिमिर नस जाय।

मेहर तुम्हारी है प्रभु, क्यों अज्ञान रहाय।।

सम्पूर्ण संसार के सभी जीवों में ब्रह्म् की व्याप्ति है यह व्याप्ति मनिका में डोर के सदृश है। उत्प्रेक्षा अलंकार के माध्यम से ब्रह्म की सर्वव्यापकता का तथ्य उद्घाटित करती हैं :–

"वहीं एक व्यापक सकल, ज्यों मनिका में डोर।"

रूपक अलंकार का प्रयोग भी इनकी रचना में मिलता है जैसे :–

१. "अंध कूप जग में पड़ी दया करम बस आय"

२. "गोविन्द रूपी गदा गहि, मारों करमन डीठ"

३. बहे जात है जीव सब काल नदी के मांहि।

दया भजन नौका बिना उपजि उपजि मरि जाहि।।

यमक अलंकार का एक प्रयोग दृष्टव्य है :-

विरह सूँ हूँ विकल दरसन कारन पीव।

दया दया की लहर करि क्यों तलफावो जीव।।

इसमें यमक अलंकार के साथ गहन विरहानुभूति का प्रयोग हुआ है। अनुप्रास अलंकार काबड़ा ही सुन्दर प्रयोग दयाबाई ने किया है विनय मालिका में तो सर्वत्र आनुप्रासिक शब्दावली परिलक्षित होती है। जैसे

१. ब्रह्म विसंभर वासुदेव विस्वरूप बलबीर।

व्यास बोध बाधाहरन, व्यापक सकल सरीर"

२. कान्हा कृरग कृपानिधि केसव कृस्न कृपाल।

कुन्जविहारी क्रीटघर कंसासुर को काल।।

इनकी शैली प्राजंल है। उसमें सर्वत्र प्रवाह, सरसता, सरलता और काव्यात्मकता विद्यमान है। वह भाव को वहन करने में समर्थ है।

अतः भावात्मकता के साथ ही काव्यात्मकता में भी वे सिद्धहस्त है। इनकी आत्मानुभूति को व्यक्त करने में इनकी भाषा-शैली सक्षम है। इनकी दोनों रचनाये संत परम्परा की अमूल्य निधि हैं। इससे संत परम्परा के आचार, विचार, भावनायें, भक्ति, स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होती है। ये एक सरल हृदय के उद्‌गार हैं, जो सृष्टि के कण-कण में व्यापक ब्रह्म के साथ तादात्म्य की अवस्था के सूचक हैं। वे एक उत्त्कृष्ट कोटि की कवयित्री ही नहीं, वरन् योग साधना को समर्पित साधिका थीं, जिन्होंने संत परम्परा के सिद्धान्तों के परिवर्धन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनकी रचनायें माधुर्य भाव के साथ साथ ओज गुणों से भी युक्त है। उनका ब्रह्म निर्गुण-सगुण का समन्वित रूप है। साधना के लिये वे भी अजपा एवं अनाहत नाद की प्रक्रिया का उल्लेख करती हैं और यह भी स्पष्ट करती है कि वे इन क्रियाओं से परिचित थीं, अतः योग साधना में

भी उनकी पहुँच थी, यह उनकी रचना से प्रमाणित होता है। वे शब्दमार्गी थीं। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहते हुये जीवन के वैराग्य पक्ष को अंगीकृत करके इन्होंने चरणदासी सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में योगदान दिया। हिन्दी सन्त परम्परा में सहजोबाई के साथ ही दयाबाई भी विशिष्ट स्थान की अधिकारिणी हैं, इनकी विशिष्टता इस संदर्भ में भी है कि मध्यकाल में सम्पूर्ण नारी जाति अन्धकार के कूप में पड़ी हुई थी, ऐसी विषम परिस्थिति में इनता गूढ़ ज्ञान वह भी सन्त परम्परा के माध्यम से जनमानस को देना, पुरुष सन्तों की अहमन्यता के बीच स्वयं को स्थापित करना भी एक साधना ही है।

(३) बावरी साहिबा

संत परम्परा में बावरी साहिबा अप्रतिम स्थान रखती हैं। वे बावरी पंन्थ की चतुर्थ संत थीं। बावरी-पंथ को सन्त सम्प्रदायों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस पंत के प्रवर्त्तक के विषय में दो मुख्य मत हैं। प्रथम मत पर विश्वास करने वाले यह कहते हैं कि इस पंथ के प्रवर्त्तक रामानन्द जी थे, जो बनारस जिले के अन्तर्गत किसी पटना गाँव के निवासी थे। द्वितीय मत के अनुसार इस पथ की प्रवर्तिका बावरी साहिबा थीं, कदाचित् यह मत कल्याण के "संत विशेषांक" पर आधारित है। इस अंक में बावरी साहिबा ही इसकी संस्थापिका मानी गई हैं, परन्तु इस मत की पुष्टि के लिये कोई उचित प्रमाण नहीं दिया गया है।[1] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार "बावरी साहिबा की परम्परा संत परम्परा की आधे दर्जन बड़ी परम्पराओं में से एक हैं। इसका प्रभाव क्षेत्र प्रधानतः दिल्ली प्रान्त तथा उत्तरं प्रदेश के पूर्वी जिलों तक विस्तृत है। इसके अन्तर्गत उच्चकोटि के अनेक महात्मा हो चुके हैं, जिनके कारण कुछ नवीन पंथ भी प्रचलित हो गये हैं.... .... जनश्रुतियों के अनुसार इस पंथ का प्रारम्भ उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले से हुआ था, किन्तु पंथ की रूपरेखा दिल्ली प्रान्त में जाकर निर्मित हुई। अपने अधिक और पूर्ण विकास के लिये इसे एक बार पुनः पूर्व की ओर ही लौटना पड़ा। पंथ के प्रथम पाँच प्रचारकों ने इसको संगठित करने का कदाचित कुछ भी यत्न नहीं किया। इनमें से चतुर्थ प्रवर्त्तक को हम एक योग्य नारी बावरी साहिबा कि रूप में पाते हैं, जिसका व्यक्तित्त्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसी कारण यह परम्परा इनके नाम पर आज प्रसिद्ध चली आ रही है।[2] डा० नगेन्द्र ने इन्हें उच्च कुल की महिला माना है।[3] आ० परशुराम चतुर्वेदी उनका संबंध किसी राजघराने से होना

---

[1] संत पलटू दास और पलटू पंथ पृ० १० डॉ० राधाकृष्ण सिंह

[2] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ५३९

[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास डा० नगेन्द्र पृ०-१३९

सम्भव मानते हैं।[1] डा० भगवती प्रसाद शुक्ल ने अपने शोध प्रबंध में इन्हें दिल्ली के किसी सभ्रान्त कुल में उत्पन्न माना है।[2] संत दास माहेश्वरी ने भी इन्हें दिल्ली के ऊँचे खानदान की महिला माना है।[3] और कदाचित् यही कारण है कि मुसलमान और हिन्दू दोनों ही इनसे प्रभावित थे। बावरी साहिबा के प्रयत्न से ही इस मत का प्रचार प्रसार हुआ और इसने सुव्यवस्थित रूप में एक पंथ का रूप धारण किया। इस प्रकार रामानन्द द्वारा प्रणीत इस पंथ ने बावरी साहिबा के समय अपना अलग अस्तित्व बना लिया।[4] बावरी साहिबा अकबर की समकालीन कही जाती है। आ० परशुराम चतुर्वेदी[5] और डा० नगेन्द्र[6] उन्हें अकबर का समकालीन स्वीकार करते हैं। ''बावरी पंथ के हिन्दी कवि'' में डा० भगवती प्रसाद शुक्ल इनका आविर्भाव अकबर के सिंहासनारोहण (सं० १५९९) से कुछ समय पूर्व मानते हैं।[7] अतः उपर्युक्त आधार पर इनका अकबर के समय होना स्वीकार किया जा सकता है । डा० नगेन्द्र के अनुसार इनका समय १५४२-१६०५ ई० के लगभग माना जाना चाहिये।[8] ये दादूदयाल और हरिदास निरंजनी की भी समकालीन कहीं जाती हैं।[9] ''महात्माओं की वाणी'' (राम वरनदास) से ज्ञात होता है कि बावरी साहिबा मयानंद की शिष्या थीं। रामानंद के शिष्य का नाम दयानंद था तथा उनके शिष्य का नाम मयानंद कहा जाता है। बाल्यकाल से ही अध्यात्म में विशेष रूचि होने के कारण सत्यानुभूति और ब्रह्म की साधना में यत्र तत्र भटकते हुये इन्हें समस्त संतों में मयानन्द सबसे योग्य संत प्रतीत हुये और इन्होंने

---

1. संत काव्य पृ०- २८१
2. हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉं डा० आशा श्रीवास्तव पृ० ८०
3. हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉं डा० आशा श्रीवास्तव पृ० ८०
4. संत पलटू दास और पलटू पंथ डा० राधा कृष्ण सिंह
5. उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ०-११
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ०-१३९
7. हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासि का कवयित्रियॉं से उद्धृत पृ०-८०
8. हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ०-१३९
9. उ० भा० की संत परम्परा

मयानंद को अपना गुरु स्वीकार कर लिया।[1] इसके अतिरिक्त इनकी साधना पद्धति व्यक्तिगत जीवनी और काव्य के विषय में कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती।

बावरी साहिबा के नाम के विषय में भी कोई स्पष्ट सूचना नहीं मिलती है। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि यह इनका मूल नाम नहीं था। यह तो उनकी चित्तवृत्ति का परिचायक "उपनाम" सा है, जिसे लोगों ने उनके विचित्र स्वभाव को लक्ष्य करके बावली (पगली) के अर्थ में संगोपित कर दिया होगा। कहा जाता है कि भगवान के प्रेम में पागल होकर ये अपने घर से निकल पड़ी थीं। घरवालों तथा संबंधियों के द्वारा ये बहुत सताई गई, परन्तु अपनी टेक से विरत नहीं हुई।[2] हो सकता है इसी कारण इनका नाम बावरी प्रसिद्ध हो गया हो। इनके द्वारा रचित "बावरी रावरी का कहिए" वाला पद इनकी इसी चित्तवृत्ति को दर्शाता है। कृतित्व के नाम पर इनके अधोलिखित केवल दो पद प्राप्त हैं–

१. सवैया

बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरे नितभांवरी,[3]

भांवरी जानहिं संत सुजान, जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी।

सांवरी सूरत मोहिनी मूरत, देकर ज्ञान अनन्त लखावरी,

खांवरी सौंह तेहारी प्रभू, गति रावरी देखि भई मति बावरी।।

---

[1] संत पलटू दास ओर पलटू पंथ डा० राधा कृष्ण सिंह पृ०-११

[2] हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉं पृ०-८० डा० आशा श्रीवास्तव

[3] संत काव्य परशुराम चतुर्वेदी पृ०-२०१

२. प्रभाती

अजपा जाप सकल घट बरतै, जो जानै सोइ पेखा,

गुरु गम जोति अगम घर बासा, जो पाया सोई देखा।

मैं बन्दी हौं परम तत्व की जग जानत की भोरी,

कहत बावरी सुनों हो बीरू, सुरति कमल पै डोरी[1]।।

उक्त पदों का मनन करने से उनकी उच्च आध्यात्मिक स्थिति और साधना की सिद्धावस्था का परिचय मिलता है। स्वयं के "बावरी" कहे जाने को लक्ष्य करके वे कहती हैं, कि मन पतंग के सदृश ब्रह्म स्वरूप अलौकिक प्रकाश मान सत्ता के चतुर्दिक भाँवरी भर रहा है और इस भाँवरी का सही प्रतिपाद्य केवल संत जन लक्षित कर सकते हैं, जिन्हें हृदय में ही उस ईश्वर का रूप दिखाई देता है। फलस्वरूप जागतिक दृश्यमान सत्य में ही उस अनन्त ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं और आपकी (ईश्वर की) यही स्थिति लक्ष्य करके मेरी वुद्धि बावरी हो गयी है। अतः उनकी मनोदशा और उनका नाम एक इसरे के सार्थक प्रतिबिम्ब हो गये हैं। इनके द्वारा रचित सम्पूर्ण पद रचना राशि के प्रकाश में न आने से इनका सम्प्रदायगत अभिप्राय जानना कुछ कठिन है तथापि इनका "अजपा जाप सकल घट" वाला पद इनकी साधना पद्धति पर बहुत कुछ प्रकाश डालता है। इस पद के आधार पर हम उन्हें "सुरति-शब्दमार्गी" कह सकते हैं। उनका कथन है कि, सभी प्राणियों के शरीर में स्वतः अजपा जाप की क्रिया हो रही है किन्तु इसे वही समझ सकता है, जिसने इसका अनुभव किया हो। उस प्रकाशमान परमतत्व की अनुभूति जब गुरुकृपा से होती है, तभी साधक सफल होता है। अपने शिष्य बीरू साहब को सम्बोधित करती हुई वे कहती हैं कि मैं उस परमतत्व की दासी हूँ और यह संसार मुझे भोरी (पगली) मानता है।

---

[1] संत काव्य परशुराम चतुर्वेदी पृ० २८१

सुरति रूपी डोर को ब्रह्मरन्ध्र रूप कमल से सम्पृक्त रखने की आवश्यकता है। इस "सुरति-शब्द योग" में काष्ठ की माला इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती।

उनकी रचनाओं में प्राप्त अजपा-जाप, सुरति, कमल, डोरी इत्यादि शब्दों के आधार पर हम उन्हें निर्गुण शब्दमार्गी साधिका कह सकते हैं। "मन ह्वै के पतंग भरे नित भाँवरी" उनकी भगवत्प्रेम में तन्मयता की स्थिति का परिचायक है। "भाँवरी जानहिं संत सुजान" कहकर संत समुदाय द्वारा उस तन्मयता एवं तल्लीनता की वास्तविक अनुभूति और उनकी तल्लीनता के कारण का वास्तविक ज्ञान संतों को ही है, क्योंकि संत जन भी इसी तन्मयता का अनुभव करते हैं, इस तथ्य का दिग्दर्शन कराती हैं। ''गुरु गम जोति अगम घर बासा जो पाया सोइ, देखा'' कहकर वे गुरु द्वारा निर्दिष्ट साधनापद्धति पर अग्रसर होते हुये परम तत्व की अनुभूति प्राप्त करने का सत्य उल्लिखित करती हैं। उक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्गुण मतावलम्बियों द्वारा अनुमोदित एवं मान्य सिद्धान्त बावरी पंथ में भी अपनायें गये। साथ ही "बावरी रावरी का कहिये" वाले पद में सूफी प्रेमोन्माद भी परिलक्षित होता है। अतः विलक्षण भाव बोध में निमग्न रहने वाली "बावरी" साहिबा उच्चकोटि की साधिका सिद्ध होती हैं।

बावरी साहिबा का व्यक्तित्व अत्यन्त आकर्षक तथा प्रभावकारी था, जिसके कारण जाति-पाँति के बंधन अस्वीकार करते हुये बहुत से लोग इनके प्रभाव से अपने को वंचित न कर सके और इनके शिष्य हो गये।[1] संख्या की दृष्टि से कम होते हुये भी इनके पदों का उच्च आध्यात्मिक स्तर इन्हें उच्चकोटि की कवयित्री सिद्ध करता है, और संत मत में इनके महत्व और प्रभाव को भी रेखांकित करता है। समृद्ध शिष्य परम्परा (बावरी-बीरू-यारी साहब-बुल्ला साहब-जगजीवन साहब) उनके इस महत्व का परिचायक है।

इस प्रकार निर्गुण-संत-परम्परा को समृद्ध करने वाली स्त्री संत कवयित्रियों में बावरी साहिबा का महत्वपूर्ण स्थान है।

---

[1] हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियाँ पृ० ८३ डा० आशा श्रीवास्तव

(४) उमा

स्त्री संत काव्य परम्परा में "उमा महत्वपूर्ण सथान रखती है। वे राम सनेही सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक स्वामी रामचरण दास जी के शिष्य रामजन की शिष्या कही जाती हैं।[1] रामजन रामसनेही सम्प्रदाय के शाहपुरा शाखा के थे। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

"उमा राम जहां के सरणै निरभै पर पाइ रे।"

"मध्यकालीन हिन्दी कवियत्रियाँ" की लेखिका डा० सावित्री हिन्हा उनके गुरु का नामोल्लेख किये बिना उनके द्वारा किसी संत को गुरु बनाने का उल्लेख करती है। "उमा भी किसी संत को गुरु बनाकर उनसे सतगुरु का भेद जाने की जिज्ञासु कोई शिष्या प्रतीत, होती है।[2] रामजन सं० १८३९ वि० (सन् १७८२) में विद्यमान थे, अतएव उमा का भी यही समय माना जाना चाहिये। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में उपलब्ध हस्त लिखित हिन्दी ग्रन्थों का सत्रहवाँ त्रैवार्षिक विवरण के पृष्ठ ७९ पर इनका उल्लेख है।[3] इनके जीवन के बारे में और कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है।

कृतित्व

इन्होंने कितने पदों की रचना की है, यह निश्चित नहीं है, क्योंकि इनके पदों का कोई भी संकलन प्राप्त नहीं है। हस्तलिखित रूप में इनके सात (७) पद मिलते हैं। हो सकता है, इन्होंने

---

[1] हिन्दी साहित्य में निर्गुणोपासिका कवयित्रियाँ पृ०-१५६

[2] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ०-४६

[3] हिन्दी में निर्गुणोयासिका कवयित्रिया। पृ० १५६

और भी पद रचे हों, किन्तु संकलन न हो पाने के कारण ये पद नष्ट हो गये हों। इनके प्राप्त सातों (७) पद निम्नांकित हैं।

राग परज

(१) आयों मारै दिन-दिन सुजस वाइ रे संता छै। टेक

धन सतगुरु तुमें परमहंस हो नीर षीर नरणों कराई रे ॥१॥

पर करती परव्रती त्यागी नस्वर तीन गसाई रे ॥२॥

संत पुरुष मुगति के दाता भरम कोले भेर मेटाइ रे ॥३॥

तरगुण रहित निरंजन देवा ज्याको ध्यान धराइ रे ॥४॥

उमा रामजना के सरणै निरभै पदवी पाइ रे ॥५॥[1]

(२) ऐसे जन पुज वु जु राम रंग राते हैं ॥ टेक ॥

ग्यान ध्यान सै सव सुजलीयां, भारी समता धन मैं ऐसे संत माते हैं ॥१॥

पॉच पचीस तीन गुण सु रहीत स्यांई है, आप सो अलपत स्वामी सोई संत कहाई है॥२॥

भरम करम के भार जु दूर करावै, आप सरूप सांमी सब में कुहावै ॥३॥

सुध-बुध सुं सैन सुष पावै पारब्रह्म एक तारधार कै एक भाव रहावै है ॥४॥

सतगुरु सूरासावंत है अवनासी उमां नित दरसणा पावै सरणा में दासी ॥५॥[2]

---

[1] हिन्दी में निर्गुणोयासिका कवियत्रियाँ पृ-१५६

[2] वही पृ० १५७ से उद्घृत

राग बसंत

(३) सातों सुरत सुन्दरी नाही जाय ।

पलक पीया संग क्यू न आय ।। टेक ।।

पीया के संग अमर सुष पाय ।

इमरत रास (रस) का फल खाय ।।

जनम मरण का दुष वलाय ।। १।।

ऐसो सुष सतगुरु बगसाय ।

अनन्त कोट जनमै मा गाय ।।

सुरत सबद मेरा षोय ।।

अमरापुर में वासो होय ।।२।।

ओ अवसर अब बन्यो है आय ।

अवसर चुकां (चूक्यां) फेर पसताय (पछताय),.

नागरी (नगुरा) नर दो जग (दोजख) मां ।

उमां सतगुर सरणोधयां ।।३।।[1]

पद

(४) सहेल्यां हमारों बौहौत सुप्यारौ सैण सतगुरु जी सैण चलायौ है ।। टेक ।।

राम तमाशा नां मै हौ रैण दिवस तलफाय ।

---

[1] हिन्दी साहित्य के निर्गुणोपासिका कवयित्रियां पृ० १५८

नेरा सु दूरा क्यूं होइ मुझ मैं सुकवताय ।।१।।

सुरत नरत कर पंथ जी हार करम लोगे आठ ।

बिरहन कूं विसवास दीजै तुम बिन रह्यौ न जाई ।।२।।

बौहत दिनां रौ अंतरौ भागौ असमो मांह ।

सतगुरु में लय जाइया हौ मिलिया पूरण ब्रह्ममाह ।।३।।[1]

(५) ऐसे फाग खेले राम राय।

सुरत सुहागण सम्मुख आय।।

पंच तत को वन्यो है बाग।

जामे सामन्त सहेली रगत फाग।।

जहॅ राम झरोखे बैठे आय।

प्रेम पसारी प्यारी लगाय।।

जहाँ सब जनन को बन्यो है ज्ञान गुलाल लियो हाय।

केसर गारो जाय।[2]

(६) सैयां हो मेरी सब ही न बीरी हो गुनो।

करुणानन्द सामी अरज सुनो।।

कामी, कपटी क्रोधी मन बसु लालच में अतिलीन।

अधम उधारन विरद तुम्हारो से क्यों होवेगा दीन?

---

[1] हिन्दी में निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉं पृ०-१५८

[2] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियॉं पृ०-४७

जो तुम तारी सन्तन का हो मेरी समारत नाहिं।

अधम उधारन नाम सुना हो खुसी रहुँ मन माँह।[1]

(७) जागी जोति जगत गुरदरस्या अगम सनांबे।।

रचनॉ बना राम धुन लागी जॉने संत सुनॉ नावे ।। टेक ।।

गगन कमल मैं गाजै अनहंर सुन है वन का नाबै ।

चरन बन' जहाँ नर-तरकत है, देखत है ब्रस दा नाबै।।

भाँति-भाँति सुषदाइ नाटक प्रेम मगन गलतां नाबे।।

रीत रमइया मो जा वगंसी जौ षत भरण माराणंबे।।

सोग संताप सनेही लागा निति आनंद वलसां नाबे।।

नो तम प्रीत नरंजन सेती कवंल कवंल बगसां नाबे।।[2]

उक्त पदों के अतिरिक्त उन्य कोई भी रचना उनकी प्राप्त नहीं है। इन पदों के आधार पर उनकी साधना का स्वरूप बहुत कुछ स्पष्ट हो जाता है। नामस्मरण के लिये इन्होंने भी ''राम'' का नाम लिया है किन्तु कबीर के ''राम'' की भॉति इनके राम भी दाशरथि राम न हो कर त्रिगुणातीत, ''नरंजनदेवा जाकी ध्यान धराइ रे" निर्विकारी, निर्लेप, निरञ्जन ब्रह्म हैं जो चिरकाल से पंच तत्वो से निर्मित शरीर रूप वाटिका में प्रेम रूप पिचकारी और ज्ञान रूप गुलाल से चिर सहचरी (आत्मा) के साथ फाग खेलने काउपकम करते हैं–"ऐसे फाग खेले राम राय"।–आत्मा रूपी विरहिणी भी रात दिन उनके वियोग में तड़पती रहती है। "राम तमारा नाम मैं हौ रैण दिवस तलफाय'' विरहन कूं विसवास दीजै तुम बिन रह्यो न जाई ।'' इनके पदों के मनन से यह

---

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ०-७८

[2] हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रियाँ पृ० १५९

ज्ञात होता है कि इन्हें यौगिक शब्दावली का पूर्ण परिचय प्राप्त था। सुरत, निरत, सुहागण, पंच तत, बाग, फाग, गगन, महल, कवल, सहेली, ऐसे ही शब्द हैं जो संत परम्परा में आत्मा परमात्मा के चिर साहचर्य और जीव द्वारा अहर्निश ध्यानावस्था के विभिन्न सोपानों के लिये प्रयोग किये जाते हैं।

ज्ञान प्राप्ति के लिये सतगुरु की आवश्यकता होती है। उमा भी अपने गुरु रामजन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुये उन्हें परमहंस की श्रेणी में रखती है, जिन्होंने उन्हें विवेक की दृष्टि प्रदान की –

''धन सतगुरु तुमें परमहंस हो नीरषीर नरणे कराई रे ''

उमा राम जनां के सरणै नरभै पदवी पाइ रे।''

वियोग व्यथा से विवश आत्मा सतगुरु का सैन (इशारा) पाकर व्याकुल सी पुकार उठती है–

राहेल्या हे मांरो बौहौत सुप्यारौ, सतगुरु जी सैण चलायो।

राम तगारा नाम मैं हौ रैण दिवस तलफाय ॥

और अंत मे सतगुरु के माध्यम से पूर्ण ब्रह्म में लय हो जाने की इच्छा को प्रकट करती हैं–"सतगुरु में लय जाइया हो मिलिया पूरण ब्रह्म माह"। वे सतगुरु से विनय करती हुई सन्तों के जीवन में सगाये हुये फाग की प्राप्ति चाहती हैं–

"सतगुरु जी फगवा बगसाव उमा की अरदास सुनो।"[1]

---

[1] मध्य कालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ०-४७

वे ऐसे संतो की भी अभ्यर्थना करती हैं जो राम के रंग में रंगे हैं; पॉच तत्वों, तीन गुणों के गुणों अवगुणों से निर्लिप्त हैं, वे ही संत जन कहलाने के अधिकारी हैं और उमा ऐसे संत जनो की पूजा करती हैं–

ऐसे जन पुज वु जु राम रंग राते है।

पॉचपचीस तीन गुण सुरहीत स्यांई है, आप सो अलपत स्वामी सोइ संत कहाइ है।"

एक अन्य पद मे अपनी दीनता और तुच्छता करती हुई अपने आराध्य से अपने अवगुणों की ओर ध्यान न देने की बात कहती हैं। उनके सैंया करूणानन्द हैं। यहाँ पर उनका आराध्य साकार और निराकार का समन्वित रूप है। वह केवल सूक्ष्म ब्रह्म रूप ही नहीं वरन अधमो का उद्धार करने वाला साकार विग्रह भी है –

सैंया हो मेरी सब ही न बीरी हों गुनो,

करूणा नन्द सामी अरज सुनो।

कामी, कपटी, क्रोधी मन बसु लालच में अतिलीन

अधम उधारन विरद तुम्हारों सो क्यों होवेगा दीन?

जो तुम तारी सन्तन का हो मेरी समारत नाहिं।

अधम उधारन नाम सुना हो खुशी रहुँ मन मॉह।

निर्गुण संत मार्गी साधना का लक्ष्य है 'अनाहत नाद श्रवण षट्चक्रों में चौथा चक्र है अनाहत। इसका स्थान है हृदय। चक्रों के भेदन के कम में कुण्डलिनी शक्ति जब आनाहत चक्र का भेदन करती है तब अनाहत नाद निकलता है। ये नाद दस प्रकार के होते है घंटा,शंख,

बांसुरी, वीणा, मधुरतान, ताल, मृदंग, नगाड़ा, मेघ की गर्जना और प्रणव यानी ऊँकार की ध्वनि। पातञ्जलि योग सूत्र में इन नादों का वर्णन आया है। उमा ने भी गगन महल में अनाहत नाद के श्रवण की बात कही है, जो इनकी आध्यात्मिक ऊँचाई और योग में इनकी गहरी पैठ का परिचायक है।

जागी जोति जगत गुरु दरस्या अगम संनांबे

रचनॉ बना राम धुन लागी जॉने संत सुनाँ नावै ।

गगन महल मैं गाजै अनहंद सुन है वन का नाबै ।।

अतः उमा की साधना पद्धति के बारे में कहा जा सकता है कि वे निर्गुण ब्रह्म की उपासिका थीं। संत मत के अनुसार आत्मा की अमरता में विश्वास करने वाली थी (सतगुरु सूरा सावंत है अविनासी) गुरु को ब्रह्म से साक्षात्कार कराने वाला मानती हैं, (सतगुरु में लय जाइया हो मिलिया पूरण ब्रह्म माँह) भक्ति के अन्य गुण दैन्य, विनय, आत्मनिवेदन, अत्मविह्वलता की इनके काव्य में दृष्टव्य है।

इनकी भाशा राजस्थानी मिश्रित हिन्दी है। भाषा में तद्भव रूप का बाहुल्य है। भाषा कहीं-कहीं ग्रामीणता के कारण दुरूह हो गई है। पदों में भी कहीं-कहीं मात्रायें अधिक हैं, कहीं कम है। अतः ये काव्य शास्त्र के ज्ञान से रहित प्रतीत होती है। वैसे भी इन आत्मलीन संतो में सौन्दर्य के बाह्य तत्व खोजना न केवल इनकी कविता के साथ अन्याय है अपितु इन संतों की भावनाओं के साथ भी खिलवाड़ है। कविता तो इनकी अन्तर्तम की गहन अनुभूतियों का प्रकाशन हैं, अतः इनको इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिये।

सम्पूर्ण संत काव्य में संतो की नारियों के प्रति नकारात्मक दृष्टि होते हुये भी इस परम्परा में हम बहुत से स्त्री रत्न खण्डों से परिचय प्राप्त करते हैं। इनमें महानता संतों की भी है, जो स्त्रियों के प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण रखते हुये भी उन्हें अपनी शिष्या के रूप में ज्ञान के योग्य पाते है और इन शिष्याओं की भी जो इनके दृष्टिकोणों से भली भॉति परिचित होते हुये भी इन्हीं की शरण में संसार की गति देखती है। उमा भी ऐसी ही एक शिष्या हैं, जिन्होंने संत परम्परा में अपना बहुमूल्य योगदान दिया।

(५) पार्वती

मध्यकालीन संत कवयित्रियों की चर्चा करते समय ''पार्वती'' का उल्लेख भी आवश्यक हो जाता है। उनके संबंध में किसी भी सूचना का अभाव होने के कारण उनका काल निर्धारण नहीं हो सकता है। उनके पारिवारिक सन्दर्भ का भी कहीं उल्लेख नहीं है। अन्तःसाक्ष्य के द्वारा केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि वे ''किसी'' (गुरु का भी नामोल्लेख उन्होंने नहीं किया है।) निस्पृह, निहस्वादी कामदग्धी गुरु की शिष्या थीं।

निस्प्रही निहस्वादी कामदग्धी दिने दिने।

तासु शिष्याँ देवी पार्वती।।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इनके स्त्री होने के बारे में सन्देह प्रकट करते हुये लिखा है" नाथ योगियों की प्राप्त वाणियों में नामों की विचित्र तोड़ मरोड है। कभी-कभी एक ही नाम को उच्चारण विकृति के कारण भिन्न-भिन्न मान लिया जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि परबत सिद्ध बाद में उसी प्रकार "पार्वती" या "पारबती" बना दिये गये जिस प्रकार काणेरी पाद "सती काणेरी" हो गये। इसका एक कारण यह भी है कि ''परबत'' शब्द का तृतीयान्त या सप्तम्यन्त पुराना रूप परबीत होता है।[1] किन्तु उनकी रचनाओं के अन्तिम पद से उनका स्त्री होना प्रमाणित होता है जैसे

नाद बिन्दु घटि जरै।

ताकी सेवा पारबती करै।

*   *   *   *

---

[1] ''हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रीयाँ'' पृ० ४१

मिथ्या भोजन सहज में फिरै।

ताकी सेवा पार्वती करै।।

पार्वती द्वारा रचित किसी रचना का उल्लेख नहीं मिलता। केवल कुछ पद "काशी" नागरी प्रचारिणी सभा", वाराणसी के पुस्तकालय में "सेवादास की वाणी" नामक हस्तलिखित ग्रन्थ में संकलित हैं। इसमें अनेक संतों की वाणियों का संग्रह है। इसी ग्रन्थ में क्रमांक १२७३ पृष्ठ २९४ में "पारबती जी की सबदी" के नाम से कुछ पद संकलित हैं, जो इस प्रकार है--

जलमल भरीया तल। अनगिन बलैनाभि कैतल

अगनिन बलै न प्रगटै किरन। ता कारनिया पारबती जगमकार्मन।

अरूठ कोठि के थरी जल मथरी। नासिका पवन बैलै नाभि-किलली।

उलटै पवन गगन समाई। ता कारनि ये सब मरि-मरि जाई।

रूंख बंष गिरि कंदर वास। निरधन कंथा रहै उदास।

मिथ्या भोजन सहज मै फिरै। ताकी सेवा पारबती करै।

काक दृष्टि बगो ध्यानी। बाल अवस्था भुवंगम आहारी।

अवधूत सो बैरागी पारबती। दूजा सब भेष धारी।

धन जोवन की करे न आस। चित्त न राषै कामणि पास।

नाद बिन्दु जाकै घट जरै। ताकी सेवा पावती करै।

निर्धन के कथा ह विस्तार। जुगति निंरतरि रहनि अपार।

नाद बिंद जाके घटि जरै। ताकी सेवा पारवती करै।

निष्प्रेही निहस्वादी। कामदग्धी दिने-दिने।

तासु शिष्या देवी पारबती । मोधि मुक्ति तत्त धिते।[1]

---

[1] हिन्दी साहित्य मेंनिर्गुणोपासिका कवयित्रियों से उदधृत पृ० ४३

उपयुर्क्त उक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि पार्वती किसी निस्पृह कामदग्धी गुरु की शिष्या थीं। अपनी रचना में प्रयुक्त शब्दावली से वे योगमार्गी सिद्ध होती हैं, जो समाज के धन-वैभव-आर्कषण से पूर्णतया विरत प्रतीत होती है। वे मनुष्य को धन, यौवन से विरत रहने का उपदेश देती हैं, क्योंकि इन आर्कषणों के मध्य साधना नहीं हो सकती है। इनके पद इन्हें शुष्क योगमार्गी सिद्ध करते हैं। प्रेम की सान्द्रता इनके पदों में नहीं है।

उपर्युक्त कुछ पंक्तियों के आधार पर उनके काव्य का मूल्यांकन करना कवयित्री के साथ अन्याय है। उनके बारे में इतना ही कहा जा सकता है कि वे सांसारिक वातावरण, क्रिया-कलाप से दूर, नाथ पंथ की ही तरह के किसी पंथ की साधिका थीं।

रूक्ख वंष गिरि कंदर बास।

निरधन कंथा रहै उदास।।

से इसकी पुष्टि होती है। कबीर की भाँति उलटवाँसियों का भी प्रयोग उन्होंने किया है--

उलटै पवन गगन समाई

ता कारनि ये सब मरि-मरि जाई।

योग-साधना के लिये "काग दृष्टि बगोध्यानी" होना आवश्यक है। वे नाद, बिन्दु की साधिका थीं, जो प्राणायाम केनियमों से परिचित थीं।

''नासिका पवन बैलै नाभि कित्तली''

रो उनके कुम्भक एवं रेचक क्रियाओं द्वारा कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के ज्ञान की पुष्टि होती है।

"जलमल भरिया तल, अगनिन जलै नाभी के तल"

से उनके ब्रह्मज्ञानी होकर सहजावस्था में रहने का संकेत मिलता है।

अतः पार्वती निर्गुणमार्गी साधकों की कोटि की साधिका हैं, जिन्हें योग-साधना का ज्ञान था। इनकी कुछ ही रचनाये प्राप्त है, जिनकेआधार पर इन्हें योगमार्गी कहा जा सकता है। यह वह अवस्था है जब कामिनी ही कामिनी के सम्पर्क का विरोध करते हुए नहीं हिचकिचाती थी, जब परिस्थितियो की विषमता में कहीं कोई विरली स्त्री ही अपनी प्रतिभा का कुछ-कुछ विकास कर पाती थी।[1] किन्तु पार्वती को हम कामिनी नहीं कह सकते, क्योंकि वे साधना द्वारा उस उच्च आत्मिक अवस्था को प्राप्त करती हैं, जहॉ स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है। पार्वती कीरचना भी इसी उच्च भाव की है जिसमें सांसारिक आर्कषणों के प्रति उदासीनता का भाव है। मध्यकाल में संतमत में पुरुषों की अहमन्यता के बीच उनका यह निर्बल स्वर उनके विशाल साम्राज्य को चुनौती देता सा प्रतीत होता है।

—⊛—

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ ५१

उपसंहार

भारत का आदर्श है- आत्मा की मुक्ति। यहाँ मानव का केवल एक ही कर्तव्य बतलाया गया है और वह है इस अनित्य, क्षणभंगुर जगत में नित्य, शाश्वत तत्व का प्राप्ति। उसकी प्राप्ति के लिये कोई एक निश्चित मार्ग नहीं है। मनुष्य को इस ध्येय की ओर ले जाने वाला हर मार्ग सही है।

इसमे सन्देह नहीं है कि हमारा मूल स्वरूप दिव्य या सच्चिदानन्दमय है, किन्तु संसारोन्मुखता एवं भोगैषणा की प्रवृत्ति के कारण हम अपने ब्रह्मभाव का उद्घाटन नहीं कर पाते। वस्तुतः ईश्वर प्राप्ति की साधना का मार्ग छूरे की धार पर चलने के समान कठोर और दुर्गम है। शास्त्र कहते हैं-

"पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयभू, स्वस्मत्पराड्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मान मैक्षदा, वृत्तं चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥"

अर्थात् परमात्मा ने इन्द्रियों की ऐसी रचना की है कि वे बाह्य जगत की ओर उन्मुख रहती है, अन्तर्जगत की ओर नहीं। संयोगवश थोड़े से बुद्धिमान् अमृतत्व के अभिलाषी व्यक्ति अपने नेत्रों को भीतर की ओर प्रत्यावर्तित कर अपने आत्मस्वरूप का अवलोकन कर पाते हैं। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं-

मनुष्याणां राहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।
ययतामपि सिद्धानां कश्चिन्माम् वेत्ति तत्वतः॥ ७/३।

अर्थात् सहस्रो मनुष्यों में कदाचित् दो-एक व्यक्ति ही मुक्ति प्राप्ति की चेष्टा करते हैं और सहस्रों जिज्ञासुओं में दैवाति ही कोई उस परमतत्व को जान पाता

है। जब तक मनुष्य को आशा, तृष्णा के दृढ़ रज्जुओं से बंधे होने का अनुभव नहीं होता, तब तक उसमें मुक्ति की आकांक्षा जाग्रत नहीं होती। बंधन का अनुभव एवं उसे काटकर अपने मूल स्वरूप को प्राप्त करने की व्याकुलता अमृतत्व (मुक्ति) की प्राप्ति का प्रथम सोपान है। इस भारत भूमि में अमृतत्व के अभिलाषी परम सत्य की अनुभूति करने वाले ऋषियों की दीर्घ परम्परा रही है।

प्राचीन काल से ही भारत में स्त्रियों का स्थान घर की निभृत चहार-दीवारी में रहा है। आत्मत्याग, सहिष्णुता और सतीत्व का प्रतीक सीता और सावित्री भारतीय स्त्रियों का आदर्श रही हैं। सतीत्व के इस आदर्श के साथ मातृत्व का आदर्श भी जोड़ दिया गया है। उन्हें शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने के योग्य नहीं समझा गया, किन्तु ऐसी स्थिति आरम्भ से नहीं थी। वैदिक संस्कृति में ऐसी भी स्त्रियाँ मिलती हैं जो ऋषि थीं, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया था, और जो सामान्य स्त्री पुरुषों से काफी ऊपर थीं। ऐसा कैसे संभव हुआ कि जिस स्त्री ने सत्य का साक्षात्कार कर मानवता को कुछ नया देने की ऊँचाई को प्राप्त किया था, वही अपने इस स्तर से गिर गई? यह स्थिति लगभग दो हजार वर्षों से ही दिखाई पड़ती है, जब पुरुषों ने शास्त्र ज्ञान पर एकाधिकार कर लिया और स्त्रियों को इसके अयोग्य घोषित कर उसे इससे वंचित कर दिया। किन्तु किसी शास्त्र में ऐसा नहीं कहा गया है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं हो सकती हैं। वेदान्त में तो कहा गया है कि एक ही चित् सत्ता सर्वभूतों में विराजमान है। परब्रह्मत्व में लिंग-भेद नहीं है। हमें, मैं, तुम की भूमि में ही यह लिंग भेद दिखाई देता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में ऋषि कहते हैं- "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी"। परमात्मन् तुम्हीं स्त्री हो, तुम्ही पुरुष का

रूप धारण करते हो और तुम्हीं कुमार या कुमारी हो। वस्तुतः स्त्री-पुरुष में बाह्य भेद रहने पर भी आत्मिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है, अतः यदि पुरुष ब्रह्मज्ञ बन सकते हैं तो स्त्रियाँ ब्रह्मज्ञ क्यों नहीं बन सकती हैं? इसी धारणा को मध्यकालीन संतकवयित्रियाँ सत्य प्रमाणित करती दिखाई देती हैं, जिन्होंने पारिवारिक दायित्वों से मुक्त होकर अपने को पूरी तरह आध्यात्मिक साधना एवं ईश्वर भक्ति में अर्पित कर दिया, और अपने आध्यात्मिक संघर्ष और अनुभवों की अनमोल धरोहर हमारे लिये सुन्दर पदों और गीतों के रूप में छोड़ गईं।

इन्होंने हमें क्या दिया, इस मूल प्रश्न की पर्यालोचना से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि तब हमारी स्थिति क्या थी, हम कहाँ थे। हम थे ऐसे परिमण्डल में जहाँ सब था, नहीं था तो ईश्वर के प्रति हमारा सच्चा आकर्षण, नहीं थे ईश्वर। ईश्वर के प्रति आकर्षण को एवं ईश्वर को हमने खो दिया था। खो गये थे हम हिन्दू, मुसलमानों के अन्तसंघर्ष में, कट्टर हिन्दू समाज की नाना शाखा-प्रशाखाओं के साम्प्रदायिक कलह के विभ्रान्तिकर आवर्त्त में एवं अनेकों कुसंस्कार और संकीर्णताओं के विराट आर्वजना स्तूप में। इन संत कवयित्रियों ने ईश्वर के प्रति हमारे खोये आकर्षण को पुनः लौटा दिया। हमारे जीवन का परम ऐश्वर्य है यह ईश्वर प्रेम। मध्ययुग में धर्मीय नैराज्य (अव्यवस्था) के वातावरण में, अविश्वास एवं संशय के क्षणों में एवं धर्म के नाम पर कुसंस्कार और असहिष्णुता के निर्बाध विस्तार के युग में हमारे जीवन से यह ऐश्वर्य यह संपदा अदृश्य हो गई थीं। इन संतों ने हमारे जीवन में फिर से ईश्वर प्रेम एवं ईश्वर को लौटा दिया। इनका उद्देश्य है मनुष्य का उत्तोलन, मनुष्य का उत्तरण मनुष्य का उर्ध्वायन। इस उर्ध्वायन में मनुष्य का मार्गदर्शक है सद्गुरु। गुरु में ही वह शक्ति

है जो मनुष्य की वृत्तियों को उर्ध्वगामी करके परमतत्व तक पहुँचने का मार्ग आलोकित करता है। गुरु शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्र वचन कहते हैं-

गुशब्दशचान्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारः निरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते।।

गु शब्द का अर्थ है अन्धकार, रु का अर्थ है निरोधक, अर्थात् अन्धकार को जो निरुद्ध करें उन्हें गुरु कहा जाता है। गुरुस्तोत्र में भी कहा गया है कि-

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरून्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।।

अर्थात् अज्ञान तिमिराच्छन्न व्यक्ति के चक्षुओं को ज्ञानाञ्जन शलाका से उन्मोचित करने वाले गुरु हैं। गुरु शब्द की यही व्याख्या, यही महत्ता संत कवयित्रियों के साहित्य में उल्लिखित है।' गुरुवाणी में विश्वास, उसका अन्तर से मन-प्राण से ग्रहण, मनुष्य के चञ्चल संशयाकुल मन की विश्रान्ति के लिये आवश्यक है।

इनकी रचनाओं का प्रतिपाद्य भगवान के नाम का गुणगान, साधुसंग, नित्यानित्य विचार, गुरुमहिमा का उद्‌देश्य एक ही है, मन से संसार के प्रति राग भावना का त्याग कर, भगवान के प्रति, चित् शाश्वत तत्व के प्रति अपनी मनोवृत्तियों का निक्षेपण। ये अपनी वाणी से ही नहीं वरन् आचरण से भी मनुष्य को भोगैषणा से उबारने का महत्वपूर्ण कार्य करतीं हैं। विरागमूलक संत साहित्य का अन्तःप्राण ही है, सच्चिदानन्द स्वरूप की प्राप्ति। इन संत कवयित्रियों ने

समाज में प्रचलित अनेक अन्धविश्वासों, आडम्बरों, तीर्थाटन आदि की निःसारता प्रतिपादित करके अत्यन्त निकट अपने हृदय में ही उस ईश्वर को खोजने की अन्तर्दृष्टि प्रदान की। ''एकं सत विप्रा बहुधा वदन्ति'' की ही तरह अनेक साधना पद्धतियों को एक ही ईश्वर तक पहुँचने के अनेक रास्ते बताये। स्वयं में सब प्राणियों को एवं सब प्राणियों में स्वयं को देखने की विराट मानवतावादी दृष्टि इन संत कवयित्रियों के काव्य की मूल अन्तर्वस्तु है। इनके काव्य में ज्ञानी का ज्ञान एवं भक्त का हृदय दोनों एक साथ परिलक्षित होता है। ये परत-दर-परत मनुष्य की अज्ञान की ग्रन्थियों को खोलते हुए, मनुष्य की अनेक समस्याओं का अत्यन्त सरल समाधान प्रस्तुत करती हैं। आश्चर्य होता है इस संत साहित्य पर, क्योंकि मध्यकाल में वे इतनी निरीह, इतनी पदाक्रान्त, इतनी अशिक्षित, इतनी दलित हैं, दलित ही नहीं अतिदलित हैं, ऐसी स्थिति में इतनी विपुल ज्ञान राशि, वह भी उसी साधना पथ में जिसमे वे अत्यन्त तिरस्कृत हैं, मनुष्य मात्र को प्रदान करती हैं, आश्चर्य नहीं महाआश्चर्य है।

रवीन्द्र नाथ टैगोर ने एक स्थान पर कहा है कि, ''भारत विचित्रताओं का देश है। वैचित्र्य ही भारतवर्ष का सत्य है एवं इस वैचित्र्य के बीच एकत्व की सृष्टि करना ही भारत वर्ष की साधना है।'' उक्त विचार भारत की विविध साधना पद्धतियों के बारे में भी उतना ही सत्य है, जितना अन्य अनेक क्षेत्रों के विषय में। प्रस्तुत शोध कार्य के अध्ययन के समय भी मुझे इसी सत्य का आभास पग-पग पर होता रहा। पूर्व से पश्चिम एवं उत्तर से दक्षिण तक देश का आत्मिक स्वर एक ही है- सत्य का साक्षात्कार एवं प्रसुप्त मुमुक्षत्व को जाग्रत करके चिद्सत्ता से चिर साहचर्य। उत्तर की लालदेद या देवी रूप भवानी हों, या दक्षिण की

मुक्ताबाई, बहिणाबाई, जनाबाई, अक्काबाई, महादायिसा बयाबाई एवं मल्ला हों, पश्चिम की कृष्णाबाई, गवरीबाई, इन्द्रामती, पुरीबाई, दिवालीबाई, राधाबाई हों या हिन्दी प्रदेश की सहजोबाई, दयाबाई, बावरी साहिबा, उमा, पार्वती हों, सर्वत्र इसी आत्मिक ऐक्य के दर्शन होते हैं। अनेक विभिन्नताओं के होते हुए भी इनके विचार, आचरण साधना पद्धति में आश्चर्यजनक समानतायें हैं। इनका उद्घाटित एवं आचरित सत्य एक है और वह है इनका ईश्वर के प्रति प्रेम, ईश्वर विभिन्न नामों से पुकारा जाता हुआ भी एक है, और वह अपने चेतन स्वरूप में सब प्राणियों में व्याप्त है। संतकवयित्रियों की यह विराट मानवतावादी दृष्टि भारत की विश्वबन्धुत्व की अग्रणी भूमिका का सत्य उद्घाटित करती है। भारत मे ही वह शक्ति है कि वह जगद्गुरु होकर विश्व को सत्य की ओर ले जा सकता है।

संत कवयित्रियों का साहित्य विस्तार है स्वयं का जगत् के अन्य प्राणियों के साथ, गति है परमगति मान सत्ता के साथ, लय है परब्रह्म में लयमान होकर दृश्यमान जगत् से भी परे ब्रह्माण्ड के सत्य जानने का, नाद है नाद ब्रह्म में समाहित होकर समस्त चेतन तत्वों के नाद-स्वर पहचानने का, दृष्टि है स्वयं में अन्य प्राणियों को एवं अन्य प्राणियों में स्वयं को अन्तर्भूत देखने की, परम सत्य मार्ग है उस परम सत्य तक पहुँचने का। यह वह आत्मिक स्वर है जिसे हम किसी भी भाषा के साहित्य में मनुष्य के ससीम से असीम होने के क्रम में सुन सकते हैं।

—⊛—

परिशिष्ट

परिशिष्ट

चतुर्थ उपं पञ्चम अध्याय में संकलित सतं कवियित्रियों के अतिरिक्त भी अनेक संतकवयित्रियों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन संत कवयित्रियों के बारे में वृहद सूचना का अभाव एवं इनकी रचनाओं के प्राप्त न होने की स्थिति में इनका उल्लेख परिशिष्ट के अन्तर्गत करना मै उचित समझती हूँ, जिससे आगामी शोध को दिशा एवं विषय मिल सके।

(१) अक्काबाई

ये समर्थ रामदास की शिष्या थीं। ये करहाद के रूद्राजी पन्त देशपाण्डे की पुत्री थीं। इनका असली नाम चिमनाबाई था। लेकिन वे अक्का के नाम से प्रसिद्ध थीं, जो परिवार में बड़ी बहन को कहा जाता है। वे छाफल और पार्ली के मठों की प्रमुख थीं। उन्होने विपरीत परिस्थितियों में तीस वर्ष तक मठों का प्रबन्धन किया जो उनकी योग्यता का प्रमाण है। उनकी कोई भी रचना प्राप्त नहीं है। अतः उन्होंने कितनी मात्रा में रचना की यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। उनकी मृत्यु १७२१ई० में हुई।

(२) कान्हूपात्रा

कान्हूपात्रा १५वीं शती में हुई। ये पण्ढरपुर के समीप मंगलवेद कस्बे की रहने वाली थीं। ये एक वेश्या श्यामा की पुत्री थीं। ये अतीव सुन्दरी थीं। इन्होंने माँ के पेशे वेश्यावृत्ति के प्रति अरूचि प्रकट की। एक बार वारकरी सम्प्रदाय के लोग भजन गाते हुये मंगलदेव से गुजर रहे थे, कान्हूपात्रा ने उनसे पूछा, तुम

लोग किसकी प्रशंसा के गीत गा रहे हो उन्होने उत्तर दिया, "भगवान विट्ठल के" पुनः प्रश्न करने पर कि क्या वे मुझे स्वीकार कर लेंगें, भक्तों ने कहा अवश्य। इस तरह कान्हूपात्रा उस समूह में शामिल हो पण्ढर पुर पहुँच गईं। भगवान विट्ठल के सम्मुख गायन एवं नृत्य इनके नित्य का क्रम बन गया। उनके सौन्दर्य से प्रभावित हो बीदर के राजा ने अपने सिपाहियों को कान्हूपात्रा को लाने के लिये भेजा। कान्हूपात्रा विट्ठल के दर्शन करने गयीं और वही शरीर त्याग दिया। उपर्युक्त घटना उनकी निश्छल भक्ति की परिचायक है जिसे उन्होंने अपने वातावारण के प्रतिकूल विद्रोह करके प्राप्त किया था। उन्होंने विपुल मात्रा में रचना की है, किन्तु उनकी संख्या निश्चित नहीं है क्योंकि वे कुछ ही मौखिक रूप में प्राप्त हैं।

(३) कृष्णा बाई

ये सौराष्ट्र प्रदेश की रहने वाली नागर ब्राह्मण थीं। इनकी मुख्य कृति सीताजीनी कानचाली है, जो रामायण के एक उपाख्यान पर आधारित है। उन्होंने कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित कुछ छोटी कवितायें भी लिखी है।

(४) गवरी बाई

ये भी नागर ब्राहाण थीं एवं डूँगरपुर की रहने वाली थीं। इनका जन्म सन् १७५९ में हुआ था। पॉच या छः वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हो गया था और वे शीघ्र ही विधवा हो गईं। तत्पश्चात् उन्होंने अपना मन शिक्षा एवं भक्ति में लगाया। उन्होंने बड़ी संख्या में रचनायें कीं। उनकी ६५२ कविताओं की एक

पाण्डुलिपि है जिसमें से कुछ गीत प्रकाशित भी हुये हैं। उनकी रचनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में ये सगुणोपासक थीं एवं बाद में निर्गुणोपासक बन गईं। गुजरात की निर्गुणधारा की कवयित्रियों में वे उच्च स्थान की अधिकारिणी हैं।

(५) पुरी बाई

इनके जीवन के बारे में कुछ ज्ञात नहीं है। उनकी एक कविता सीता मंगल बहुत प्रसिद्ध है। गुजरात की कुछ जातियों में स्त्रियाँ इन्हें विवाह के समय गाती हैं।

(६) दिवाली बाई

ये बडौदा के निकट दभोई की रहने वाली थीं। ये जाति से ब्राह्मण थीं। इनके जन्म मरण की तिथियाँ अज्ञात हैं। १७८१ के भयानक दुर्भिक्ष में उनके पिता ने इनके पालन पोषण में स्वयं को असमर्थ पाकर इन्हें एक संन्यासी को सौंप दिया। संन्यासी के द्वारा धार्मिक पुस्तकों के अध्यापन से इनमें भक्ति की प्रवृत्ति जाग्रत हुई। इन्होंने राम के जीवन की विविध घटनाओं पर सैकड़ों छोटी कवितायें लिखीं।

(७) राधाबाई

ये महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थीं, जो बडौदा में बस गई थीं। उनके जीवन के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है। वे एक पुण्यात्मा अवधूतानाथ की शिष्या थीं। इन्होंने पर्याप्त मात्रा में रचना की है जिसमें गुजराती, मराठी और हिन्दी का मिश्रण है।

(८) जानी बाई

जानी बाई शाक्त सम्प्रदाय की थीं। ये गजरात में शाक्त सम्प्रदाय के महान व्याख्याकार मिठू महाराज की शिष्या थीं। उन्होंने नवनायिका दर्शन एवं नाथ जी प्राकट्य नामक दो प्रसिद्ध कविताओं की रचना की। वे शाक्त सम्प्रदाय की रहस्यमयी शिक्षाओं और दार्शनिक मतों की अच्छी जानकार थीं। इनकी मृत्यु १८१२ मे हुई।

(९) संत सांई

ये गिरधर कविराय की पत्नी कही जाती है, किन्तु प्रमाण के अभाव में इन्द्रामती की तरह इनका भी अस्तित्व संदिग्ध है, क्योंकि कुछ लोग "सांई" को गिरधर कविराय का उपनाम मानते हैं। "महिला मृदुबानी" तथा "स्त्री कवि कौमुदी" में इन्हें गिरधर कविराय की पत्नी ही माना गया है। डा० सावित्री सिन्हा ने भी इन्हें गिरधर कविराय की पत्नी माना है। यदि सांई वास्तव में उपनाम न होकर गिरधर कविराय की पत्नी ही थीं तो निःसन्देह वे एक उच्चकोटि की नीति विषयक रचना करने वाली कवयित्री थीं। इनका एक पद मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियों में उद्धृत है[1] जिसके आधार पर इन्हें सन्तमार्गी कह सकते हैं।

[1] मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ पृ० २९४

सांई जग में योग करि, युक्ति न जाने कोय।

जब नारी गौने चली, चढी पालकी रोय।।

चढ़ी पालकी रोय, न जाने कोई जी की।

रही सुरत तन छाय, सुछतियॉ अपने ही की।।

कहु गिरधर कविराय, अरे जनि होहु अनारी।

मुहॅ से कहे बनाय, पेट में बिनवे नारी।।

सहायक पुस्तकें

सहायक पुस्तकें

क्रम सं०	पुस्तकें	लेखक
१	उत्तरी भारत की सत परम्परा	आ० परशुराम चतुर्वेदी
२	संस्कृति के चार अध्याय	रामधारी सिंह दिनकर
३	ग्रेटविमेन ऑफ इन्डिया	अद्वैत आश्रम, अल्मोडा से प्रकाशित
४.	कल्चरल हेरिटेज ऑफ इन्डिया	
५.	मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य मे नारी भावना	डा० उषा पाण्डेय
६.	मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियॉ	डा० सावित्री सिन्हा
७	संतकाव्य में नारी	डा० कृष्णा गोस्वामी
८	संत बानी संग्रह	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
९.	चरण दास	डा० त्रिलोकी नारायण दीक्षित
१०	संत दादू और उनकी वाणी	सं० राजेन्द्र कुमार एण्ड ब्रदर्स
११.	ऋग्वेद	दयानन्द संस्थान दिल्ली
१२.	यजुर्वेद	तदैव
१३	अथर्ववेद	तदैव
१४	सामवेद	तदैव
१५	मनुस्मृति	पं० अयोध्या प्रसाद भार्गव (टीका)
१६.	याज्ञवल्क्य स्मृति	प० भीमसेन शर्मा (टीका)
१७.	मध्यकालीन हिन्दी सत विचार और साधना	केशनी प्रसाद चौरसिया
१८	सगुण एवं निर्गुण हिन्दी साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	डा० आशागुप्ता
१९	संत साहित्य की भूमिका	डा० राजदेव सिंह
२०	मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति	दिनेश चन्द्र भारद्वाज
२१	मध्य कालीन भारतीय संस्कृति	दिनेश चन्द्र भारद्वाज
२२	भारत का इतिहास	रोमिला थापर
२३	मध्यकालीन भारत	हरिशंकर शर्मा
२४	मध्यकालीन भारत	पी० डी० गुप्ता और एम०एल० शर्मा
२५.	प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला, राजनीति, धर्म, दर्शन	डॉ० ईश्वरी प्रसाद एवं शैलेन्द्र शर्मा
२६	हिन्दी को मराठी संतो की देन	आ० विनयमोहन शर्मा
२७	हिन्दी साहित्य मे निर्गुणोपासिका कवयित्रियॉ	डा० आशा श्रीवास्तव

क्रम सं०	पुस्तकें	लेखक
२८.	भक्ति काल में नारी	डा० गजानन शर्मा
२९.	सहज प्रकाश	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
३०.	दयाबाई की बानी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
३१.	मीराबाई	डा० राजेन्द्र प्रसाद मोहन भटनागर
३२.	मीराबाई की पदावली	अ० परशुराम चतुर्वेदी
३३.	लल्लेश्वरी वाक्यानि	लालदेद (राजानक भास्कराचार्य के संस्कृत पद्यानुवाद सहित)
३४.	मध्यकालीन कवि और उनका काव्य	राजनाथ शर्मा
३५.	मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था	अल्लामा अब्दुल्लाह युसुफ अली
३६.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	सं० डा० नगेन्द्र
३७.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	रामचन्द्र शुक्ल
३८.	हिन्दी साहित्य का इतिहास	लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय
३९.	सूरदास	सं० हरबंस लाल शर्मा
४०.	कबीर	सं० विजयेन्द्र स्नातक
४१.	संत पलटू दास और पलटू पंथ	डा० राधाकृष्ण सिंह
४२.	मध्य कालीन संत साहित्य	डा० राम खेलावन पाण्डेय
४३	संत काव्य	आ० परशुराम चतुर्वेदी
४४.	पलटू साहब की बानी	वेलविडियर प्रेस इलाहाबाद
४५.	संत मत में साधना का स्वरूप	
४६.	मध्यकालीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति	उ० शं० मेहरा
४७.	दादू दयाल की बानी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
४८.	धरनीदास जी की बानी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
४९.	पोजीशन ऑफ विमेन इन हिन्दू सिविलाईजेशन	ए० एस० अल्टेकर
५०.	मध्यकालीन धर्म साधना	हजारी प्रसाद
५१.	आधुनिक हिन्दी काव्य की नारी भावना	डा० शैलकुमारी
५२.	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डा० राम कुमार वर्मा
५३.	संत सुधासार	वियोगी हरि
५४.	भागवत सम्प्रदाय	बलदेव उपाध्याय
५५.	रामचरित मानस	तुलसीदास
५६.	कबीर ग्रन्थावली	माता प्रसाद गुप्त
५७.	कबीर साखी संग्रह	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
५८.	कबीर साहब की शब्दावली	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
५९.	दूलनदास जी की वाणी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद

क्रम सं०	पुस्तकें	लेखक
६०.	घट रामायण	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
६१.	गुलाल साहब की बानी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
६२.	दरिया साहब बिहार वाले के चुने हुये शब्द	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
६३.	चरणदास जी की बानी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
६४.	जगजीवन साहब की बानी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
६५.	मलूक दास जी की बानी	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
६६.	दरिया सागर	वेलविडियर प्रेस, इलाहाबाद
६७.	कवितावली	तुलसीदास
६८.	हिन्दी नीतिकाव्य का विकास	डा० रामस्वरूप
६९.	निर्गुण काव्य दर्शन	डा० सिद्धि नाथ तिवारी
७०.	हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय	डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
७१.	सुन्दर दास ग्रन्थावली	वे० प्रेस, इलाहाबाद
७२.	सुन्दर विलास	वे० प्रेस, इलाहाबाद

पत्रिकायें

प्रबुद्ध भारत, अप्रैल ९६ अंक	अंग्रेजी भाषा में कलकत्ता से प्रकाशित रामकृष्ण मिशन का मुखपत्र
प्रबुद्ध भारत, मई ९६ अंक	तदैव
प्रबुद्ध भारत, जून ९६ अंक	तदैव
प्रबुद्ध भारत, जुलाई ९६ अंक	तदैव
प्रबुद्ध भारत, अगस्त ९६ अंक	तदैव
विवेक ज्योति	राम कृष्ण मिशन, रायपुर
निबोधत, जनवरी ९७ अंक	शारदामठ, दक्षिणेश्वर कलकत्ता से प्रकाशित बंगला भाषा की पत्रिका
कल्याण, संत अंक	गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित
कल्याण, नारी अंक	गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित